कवित्रयी

[रीतिकालीन प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि कवि--भूषण, देव एवं घनआनन्द—के जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व की सम्यक् समीक्षा]

रामफेर त्रिपाठी
एम्० ए० (हिंदी-साहित्य)
एम्० ए० (भाषा-शास्त्र)
हिन्दी-विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

रामा प्रकाशन
नजीराबाद, लखनऊ

Kavitrayee : A Book of Literary Criticism of Ritikaleen Poets, by : Ram Pher Tripathi
Price : Rs. 8/-

मूल्य	आठ रुपये
संस्करण	प्रथम, दीपावली, १६६५
प्रकाशक	बी० डी० मेहरोत्रा रामा प्रकाशन, लखनऊ
मुद्रक	रामा प्रेस नजीराबाद, लखनऊ

श्रद्धेय गुरुवर

प्रोफेसर डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल

को

सादर

आमुख

रीतिकालीन हिंदी-काव्य मूलतः सौंदर्य और शृंगार का काव्य है। अनुभूति की रमणीयता अभिव्यक्ति के शिल्प-सौष्ठव के साथ इस युग की कविता में प्रत्यक्ष हुई है। कवि के अतिरिक्त आचार्य का कार्यभार संभालनेवाले रीतिग्रंथकार भी कल्पना के ही अधिक धनी सिद्ध हुये, विचार के नहीं। काव्यचिंतन की दिशा में प्रयत्नशील होते हुए भी इनकी गति भावाभिव्यंजन और उक्ति-वैचित्र्य के क्षेत्र में ही अधिक जागरूक रही। भक्तिमिश्रित मानवीय रतिभाव के अनेक मनोवैज्ञानिक स्तरों का मर्मस्पर्शी उद्घाटन करने में इन कवियों ने अद्वितीय सफलता प्राप्त की। मनोभूमि की अतल गहराइयों और चेतना के उर्ध्व संचरणों में भले ही उनका विशेष प्रवेश न रहा हो पर सामान्य और मध्यम भूमिकाओं के मानवीय रागबोध की इतनी उन्मुक्त और सुहावनी छटा अन्यत्र दुर्लभ है। यही रीतिकालीन कवि और काव्य की निजी मौलिक शक्ति है और यही उसकी स्वयंस्वीकृत सीमा भी। युग की विशिष्ट परिस्थितियों और व्यष्टिगत विशिष्ट संस्कारों के अनुरूप ही इस शक्ति और इस सीमा का स्वरूप स्वतः निर्धारित हुआ था।

रीतिकालीन आचार्य कवियों में भूषण ने अपवादस्वरूप वीररस के काव्य का सृजन किया और इस युग के शृंगार-प्रधान साहित्य के ओज-पक्ष को सांस्कृतिक गौरव के साथ सुरक्षित रखा। महाकवि देव ने मुख्यतः प्रेम-सौंदर्य-निष्ठ भावुकता और गौणतः दर्शन-आध्यात्म-परक बहुज्ञता का परिचय देते हुए कवित्व और आचार्यत्व की अनेक सीमाओं को स्पर्श करने का प्रयास किया और रीतिकालीन कविता की प्रवृत्तियों का सच्चे अर्थों में प्रतिनिधित्व किया। रीतियुगीन कवि की क्षमताओं और न्यूनताओं की सम्यक् झलक देव के व्यक्तित्व और कृतित्व में देखी जा सकती है। घनानन्द रीतिकालीन रीतिमुक्त स्वच्छंद काव्यधारा के प्रतिनिधि-स्रष्टा के रूप में प्रतिष्ठित हैं, साथ ही इस युग की शृंगारभावना के भक्ति-पक्ष की रसात्मकता का निर्वाह करनेवालों में भी उनका स्थान अन्यतम है। 'नेही महा' और 'ब्रजभाषा-प्रबीन' घनानन्द की कविता अनुभूति की सघनता, कल्पना की रमणीयता और अभिव्यक्ति की चारुता इन सभी दृष्टियों में इस युग की अनूठी निधि है। 'मोहि तो मेरे कवित्त बनावत' जैसे वाक्यों में जिस सहज कवि-रूप और कवि-स्वभाव का संकेत उन्होंने किया है वह रीतिकालीन कवि की सामान्य भावभूमि से सर्वथा परे-एक सूक्ष्म और उदात्त प्रेरणा का परिचायक है।

रीतिकालीन हिंदी-साहित्य के इन्हीं तीन विशिष्ट प्रतिनिधि कवियों के व्यक्तित्व और कृतित्व की समीक्षा अपनी 'कवित्रयी' नामक पुस्तक में हिंदी-जगत् के उदीयमान् आलोचक श्री रामफेर त्रिपाठी ने प्रस्तुत की है। त्रिपाठी जी ब्रजभाषा-साहित्य और रीतिकालीन काव्य के अध्ययन और अनुसंधान में गहरी पैठ रखते हैं। काव्यशास्त्र और भाषाविज्ञान के सिद्धांतों के अनुशीलन में भी उनकी अभिरुचि जागरूक है। यही कारण है कि अपनी 'कवित्रयी' में वे आलोच्य कवियों के जीवन-वृत्त, उनके कृतित्व का क्षेत्र-विस्तार, उनकी रसात्मकता एवं अलंकार-योजना तथा उनकी भाषाभावगत अभिव्यंजना-क्षमता आदि विविध पक्षों का समुचित एवं संतुलित विवेचन और विश्लेषण करने में सफल हुये हैं। रीतिकालीन हिंदी-कविता पर तथा भूषण, देव और घनानन्द पर स्वतंत्ररूप से समीक्षा और अनुसंधान का महत्वपूर्ण कार्य इसके पूर्व हो चुका है। त्रिपाठी जी ने इस सामग्री का सदुपयोग किया है और उनके द्वारा प्राप्त निष्कर्षों का यथास्थान स्पष्ट उल्लेख किया है, साथ ही उन्होंने अपनी स्वतंत्र और मौलिक आलोचना-दृष्टि की संभावनाओं का भी परिचय दिया है। पुस्तक मुख्यरूप से छात्रों और जिज्ञासुओं की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर लिखी गई है, अतः आलोच्य कवियों की प्रतिभा के सभी पक्षों का विशद विश्लेषण और विस्तृत निरूपण न तो संभव ही था और न आवश्यक ही। इस प्रकार अपनी विशिष्ट सीमाओं में 'कवित्रयी' में प्रस्तुत समीक्षा की उपयोगिता न केवल उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिए वरन् रीतिकालीन साहित्य के प्रेमी पाठकों के लिए भी सर्वथा असंदिग्ध है। त्रिपाठी जी की इस आलोचना-कृति को प्रकाशित देखकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता है। मेरी मंगल-कामना है कि भविष्य में उनके द्वारा और अधिक प्रौढ़ आलोचनात्मक कृतियाँ प्रस्तुत होंगी और वे हिंदी-जगत् के मर्मज्ञ ए [illegible] क्षक के रूप में अक्षय कीर्ति अर्जित करेंगे।

[signature]

प्राणकुटी
शिवपुरी
लखनऊ
८-१०-१९६५

हिंदी-विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

वक्तव्य

काव्य-सृजन-प्रक्रिया की दृष्टि से समस्त रीतिकालीन काव्य का अवलोकन करने पर उसमें दो ही प्रमुख प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं—प्रथम, रीतिबद्ध काव्य-प्रवृत्ति और द्वितीय, रीतिमुक्त काव्य-प्रवृत्ति। कभी-कभार रीतिसिद्ध संज्ञक एक अन्य प्रवृत्ति का भी उल्लेख किया जाता है जिसमें बिहारी—जैसे रीतिअनुसरणकर्त्ता कवियों को परिगणित किया जाता है; यह सही है कि ऐसे कवियों ने लक्षणों का स्पष्ट प्रतिपादन नहीं किया, किन्तु उनकी पूरी की पूरी मनोभूमि रीतिबद्धता से ओतप्रोत होने के कारण उससे बहुत इतर नहीं कही जा सकती है। मुट्ठीभर रीतिमुक्त कवियों को छोड़कर तत्कालीन सभी ऐसे कवि रीति का आग्रह स्वीकार करते जान पड़ते हैं, चाहे वे लक्षणग्रंथकार कवि हों अथवा लक्षणों का अक्षरश: आँख मूँदकर अनुसरण करनेवाले सतसईकार बिहारी हों। इसी को लक्ष्यकर संभवत: बिहारी ही नहीं, कृष्णकवि, रसनिधि, नृपशंभु, पजनेश और रामसहायदास आदि कवियों को भी 'हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास' षष्ट-भाग, में 'रीतिबद्ध काव्य कवि' की श्रेणी में स्थान दिया गया है। वर्ण्य-विषय को देखते हुए भी, भूषण के अतिरिक्त, तद्युगीन ऐसे सभी छोटे-बड़े कवियों ने सौंदर्य, प्रेम एवं शृंगार को ही अपनी काव्य-रचना का विषय बनाया है।

इन प्रवृत्तियों को दृष्टि में रखकर भूषण को वीरकाव्य के, देव को रीतिबद्ध काव्य के और घनआनंद को रीतिमुक्त काव्य के प्रतिनिधि कवि के रूप में 'कवित्रयी' में विवेचित करने का प्रयास किया गया है। उक्त कवियों पर समीक्षाएँ लिखी जा चुकी हैं, शोध के रूप में और वैसे भी। लेखक ने उनसे सहायता ली है, अधिकांश मण्डन के लिए और थोड़ी खण्डन के लिए। वह एतदर्थ ऐसे सभी सुधी समीक्षकों के प्रति विनयावनत है।

लेखक श्रद्धेय गुरुवर प्रोफेसर डॉ० दीनदयालु गुप्त, अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, का हृदय से आभारी है जिन्होंने उसे आशीर्वाद-रूप में अपनी सम्मति प्रदान करने की कृपा की। इसके अतिरिक्त वह अपने श्रद्धेय गुरुवर एवं हिन्दी-जगत् के प्रख्यात् विद्वान् डॉ० भगीरथ मिश्र के प्रति श्रद्धावनत है जिन्होंने न केवल उसे इस पुस्तक-प्रणयन की ही प्रेरणा दी वरन् उसमें रीतिकाव्य-अध्ययन के लिए अभिरुचि भी उत्पन्न की। आदरणीय डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव ने व्यस्त रहते हुए भी पुस्तकावलोकन कर 'आमुख' लिखने की जो महती कृपा की है, लेखक उसके लिए उनका अत्यंत कृतज्ञ है।

छापे की सामान्यरूप से पाई जानेवाली भूलें भी पुस्तक में रह गई हैं जिनका सुधार अवसर आने पर किया जा सकेगा।

अंत में, पुस्तक को जिज्ञासु अध्येताओं के हाथों में सौंपकर लेखक यही कह सकता है कि यदि यह उनकी पिपासा को किंचित् मात्र भी तुष्ट कर सकी तो वह अपना श्रम सफल और सार्थक समझेगा।

७०, मोती महल
२, राणाप्रताप मार्ग
लखनऊ
१०-१०-६५

रामफेर त्रिपाठी

विषयानुक्रमणी

भूषण ९-४५

भूषण

जीवनी

प्राय: हिन्दी के मध्यकालीन कवियों का जीवन-वृत्त तमासाच्छन्न रहा है। जहाँ उत्तर-मध्यकाल (रीतिकाल) के कवि अपने विषय में 'कवि-वंश-वर्णन' आदि शीर्षकों के अन्तर्गत अपनी रचनाओं में अपना थोड़ा-बहुत परिचय अथवा संकेत देने की कोशिश करते हैं वहाँ पूर्वमध्यकाल (भक्तिकाल) के कवि दीन-भाव से भर कर अपना नाम तक नहीं लेते। आज भी हिन्दी के बड़े-बड़े कवियों का जीवन-वृत्त अज्ञात और अजाना है। इसके विपरीत जिन कवियों के बारे में थोड़ा बहुत ज्ञान भी है, उनको लेकर विभिन्न विद्वानों ने ऐसा मत-भेद उपस्थित कर दिया है कि असल भी नकल बनता हुआ दिखायी पड़ने लगा; तर्कों के भंवरजाल और विचारों के पक्ष-विपक्ष में पड़कर ज्ञात बातें भी उलझ गयीं।

इसी प्रकार भूषण की जीवनी के संबंध में भी अनेक मत और विवाद उठ खड़े हुए। भूषण की जीवनी अथवा उनके साहित्य के संबंध में कई खोजी विद्वानों ने लिखा है—मिश्र बन्धु, पं० भगीरथ प्रसाद दीक्षित, पं० कृष्णविहारी मिश्र और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र; किन्तु भूषण के संबंध में आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद जी का मत अधिक प्रामाणिक है।

कविवर भूषण का जन्म-काल प्राय: सभी विद्वानों ने सामान्य रूप से सन् १६१४ ई० के लगभग माना है।

नाम के संबंध में भी विद्वानों की एक राय नहीं है। लोगों का कहना है कि भूषण कवि का असली नाम न होकर एक उपाधि-मात्र है, जिसे चित्रकूटाधिपति हृदयराम सोलंकी ने प्रदान किया था। असली नाम इनका कुछ और ही था।

विभिन्न विद्वानों ने असली नाम की खोज करते हुए भूषण के विभिन्न नामों का पता लगाया है—पतिराम, मनिराम और घनश्याम।[1] जो भी हो हम तो उन्हें भूषण नाम से ही जानते हैं।

१—भूषण : पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृष्ठ १०२-१०३।

'शिव-भूषण' नामक अपनी रचना में भूषण ने स्वयं कहा है:—

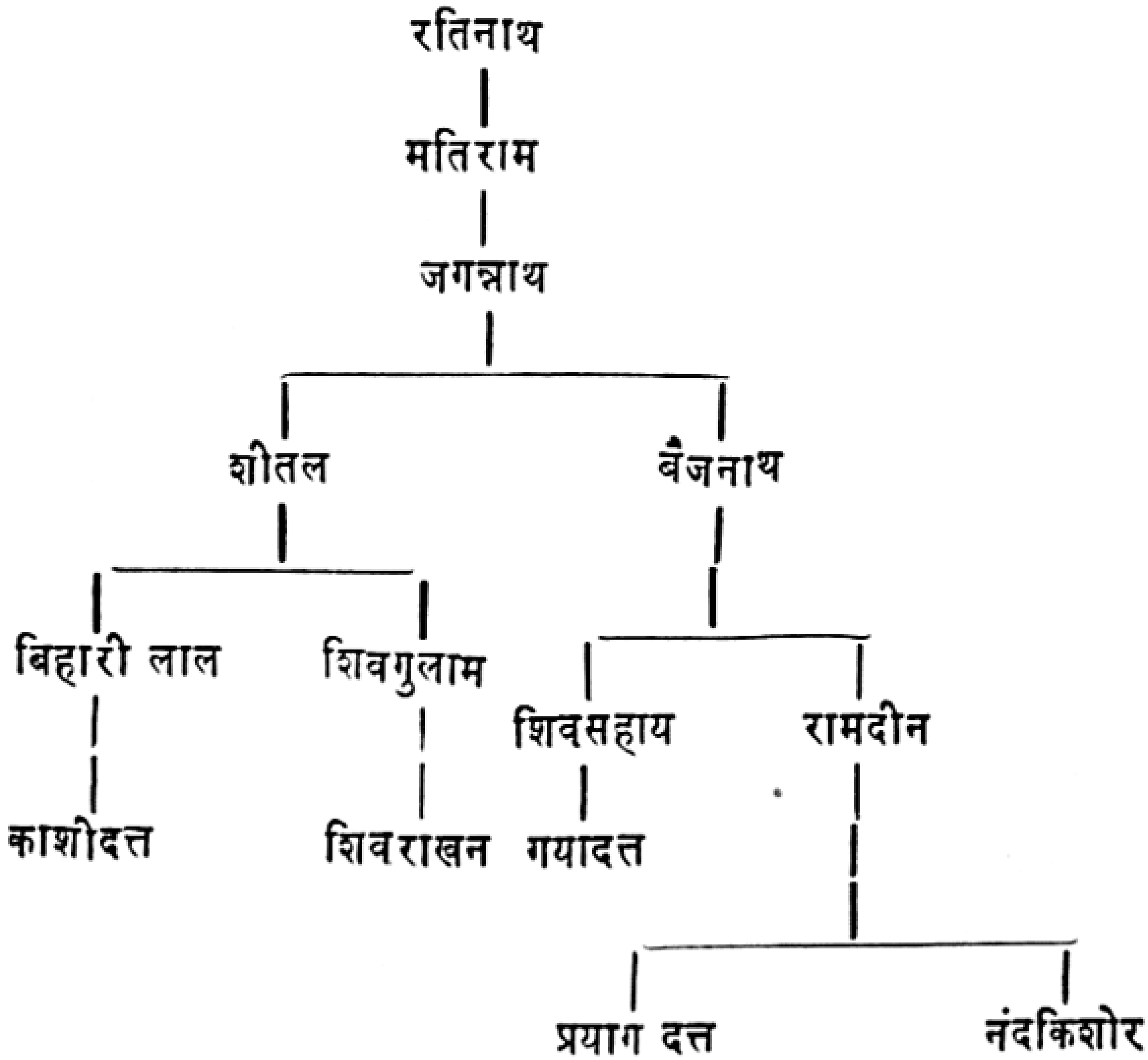
"द्विज कनौज कुल कस्यपी रतनाकर सुत धीर;
बसत त्रिविक्रमपुर सदा तरनि तनूजा तीर।"

तात्पर्य यह कि वे कान्यकुब्ज कश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे और उनके पिता का नाम रत्नाकर था। यमुना के किनारे त्रिविक्रमपुर (तिकवांपुर) गांव में रहते थे; किंतु इसी दोहे का पाठान्तर शिवभूषण की एक अन्य प्रति में इस प्रकार मिलता है:—

"द्विज कनौज कुल कस्यपी रतिनाथ को कुमार;
बसत त्रिविक्रमपुर सदा जमुना कंठ सुठार।"

इसके अनुसार भूषण के पिता का नाम रतिनाथ था। यही नहीं, भूषण के भाई मतिराम के भी पिता रतिनाथ बताये जाते हैं।

मतिराम के वंशजों से यह पता चलता है कि वे रतिनाथ के पुत्र थे और त्रिविक्रम-पुर (तिकवांपुर) में रहते थे। मतिराम के वंशजों ने निम्नलिखित क्रम से वंश-परिचय दिया है।



"इस वंश-परिचय से पता चलता है कि मतिराम रतिनाथ के पुत्र थे और उनके पुत्र जगन्नाथ, जगन्नाथ के पुत्र शीतल और शीतल के पुत्र बिहारीलाल थे। ये लोग गूदरपुर के तिवारी (कान्यकुब्ज) थे। तिकवांपुर (त्रिविक्रमपुर) में सुखवास करते थे। इसी वंश में श्रीबिहारीलाल बड़े अच्छे काव्य-मर्मज्ञ हुए। उन्होंने प्रसिद्ध विक्रम सतसई पर टीका

लिखी है। उस टीका में उन्होंने जो अपना परिचय दिया है, वह इस वंश-वृक्ष से विलकुल मिल जाता है।"[1]

इन सबका निचोड़ यह है कि भूषण और मतिराम दोनों ही कश्यपगोत्रीय कान्यकुब्ज त्रिपाठी और रतिनाथ के पुत्र थे। किन्तु कुछ लोगों ने मतिराम और भूषण के बन्धुत्व के विषय में शंका उपस्थित की है।[2] लेकिन यह शंका निराधार है, जैसा कि आचार्य पं० विश्वनाथप्रसादजी ने सिद्ध कर दिया है।[3]

इस प्रकार निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि भूषण जिला कानपुर में घाटमपुर तहसील के अन्तर्गत यमुना के किनारे स्थित तिकवांपुर (त्रिविक्रमपुर) नामक गांव के रहनेवाले थे। जैसा कि ऊपर लिखा गया है, इनके पिता का नाम रत्नाकर अथवा रतिनाथ त्रिपाठी था। ये कश्यपगोत्रीय त्रिपाठी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। कवि के इस गांव के निकट ही 'अकबरपुर बीरबल' संज्ञक गांव है जिसमें ऐतिहासिक राजा बीरबल उत्पन्न हुए थे। कानपुर के घाटमपुर तहसील से ६-१० मील जहां उस महाकवि के घर का ध्वंसावशेष 'कविन का घर' और बाग 'कविन के बाग' के रूप में अब भी सुरक्षित हैं।

रतिनाथ (उपनाम रत्नाकर) देवी के बड़े भक्त थे। गांव से थोड़ी दूर पर स्थित देवी के मन्दिर पर ये चंडीपाठ किया करते थे। देवी ने प्रसन्न होकर इन्हें पुत्रवान् होने का स्वप्न में आशीर्वाद दिया। परिणाम-स्वरूप इनके चार पुत्र हुये—चिंतामणि, भूषण मतिराम, नीलकण्ठ (उपनाम जटाशंकर)। ये चार के चारो भाई कवि निकले। मतिराम प्राय: बूँदी में रहते थे और चिंतामणि मुगल दरबार में। नीलकण्ठ अथवा जटाशंकर साधु-सेवी थे। रह गये भूषण, वे कहां-कहां चक्कर काट कर कैसे शिवाजी के पास तक पहुँचे, इस सम्बन्ध में जनश्रुतियों का ही आधार लेना पड़ता है।

जनश्रुतियाँ

कहा जाता है कि भूषण ने अपनी आयु के तीस-पैंतीस वर्ष घर पर ही गुजारे। इस कारण उनका घर में कोई विशेष आदर नहीं था। भूषण के सम्बन्ध की किंवदतियां इसी ओर संकेत करती हुई जान पड़ती हैं—

एक बार भूषण भोजन कर रहे थे, दाल में नमक कम था। भाभी से नमक मांगा। वह नाराज होकर बोली—"कहां से नमक दूं, क्या कहीं से कमा कर लाये हो?" हमारे वीर रस का कवि, ने जिसमें स्वभावत: ही ओज, पौरुष और क्षोभ की मात्रा अधिक थी, क्रोधित हो भोजन करना छोड़ दिया, और कहा—"अब भोजन तभी करेंगे, जब नमक कमा कर लाऊँगा।"

१—भूषण-पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ७६-८०।
२—भूषण-पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ६६।
३—वही- " " " १०२।

किसी भी परिवार में पति की स्थिति ठीक न होने से उसकी पत्नी की भी स्थिति नहीं ठीक रहती, इसी ओर संकेत करती हुई भूषण के सम्बन्ध में यह किवदंती कही जाती है कि एक दिन भूषण की स्त्री गणेश चतुर्थी के दिन गणेश पूजनार्थ उनके मन्दिर तक नहीं गई। इस पर उसकी जेठानी ने उसको ताना मारते हुये कहा—"अरे, अपने पति से कहो कि जीवित गणेश (हाथी) ला दें परिणामस्वरूप भूषण हाथी प्राप्त करने निकले।

कहा जाता है कि घर से निकलने पर भूषण ने देवी की यहाँ तक आराधना की कि अपनी जिह्वा तक काटकर चढ़ा दिया। प्रसन्न हो, देवी ने कवि होने का बरदान दिया। भूषण ने अध्ययन भी खूब किया। कुछ समय पश्चात् भूषण उत्कृष्ट कवि हो गये।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर यह पता लगता है कि भूषण सर्वप्रथम चित्रकूट के राजा हृदयराम सोलंकी के दरबार में गये। चित्रकूटाधिपति हृदयराम सोलंकी ने ही उन्हें १६६० ई० के लगभग 'कवि भूषण' की उपाधि प्रदान की। इसके पश्चात् वे शिवाजी के यहाँ पहुँचे। कुछ दिनों तक वहाँ रहने के पश्चात् वे घर वापस चले आये। तत्पश्चात अपने भाई चिन्तामणि के साथ वे मुगल सम्राट औरंगजेब के यहाँ गये। बादशाह को कविता सुनाने के पूर्व भूषण ने उसे सचेत करते हुये कहा—"जहाँपनाह, मेरी वीररस से भरी कविता पर गौर फर्माने के पहले आप अपने हाथ साफ कर लीजिये, क्योंकि इससे पहले शृंगारी कविता को सुनकर उससे अपवित्र स्थल का संस्पर्श किया होगा और वही हाथ जब मेरी कविता सुनकर मूछों पर जायगा तो वह भी अपवित्र हो उठेगी।" बादशाह इस पर बहुत नाराज हुआ और बोला—'यदि मेरा हाथ तुम्हारी कविता सुनने के बावजूद भी मूँछों पर न गया, तो याद रखना तुम्हारा सिर धड़ से अलग करवा दिया जायगा; इस शर्त पर मैं हाथ धोये लेता हूँ।" शर्त लगी कवि ने ऐसी ओज-भरी वीर रस पूर्ण कविता सुनाई कि बादशाह को बरबस हाथ मूँछों पर ले जाना ही पडा। औरंगजेब बहुत प्रसन्न हुआ। दरबारी और बादशाह सभी भूषण को बडे आदर की दृष्टि से देखने लगे। बड़ा मान होने लगा कवि जी का।

कुछ समय के पश्चात् एक दिन औरंगजेब ने कहा, आप सभी रात-दिन मेरी प्रशंसा ही किया करते हो—क्या मुझमें कोई दोष नहीं है। दरबार के अन्य व्यक्तित्व रहित कवि तो बादशाह की इतनी बात सुनने के बावजूद भी उसकी प्रशंसा करने में लगे रहे, किन्तु भूषण ने कहा, यदि मुझे कविता सुनाने के बाद माफ फर्माया जाय, तो आपके अवगुणों से भरी कविता सुनाने को प्रस्तुत हूँ। छूट मिल गयी।

हिन्दू राष्ट्रीयता के समर्थक कविभूषण ने निम्नांकित छन्द पढ़ सुनाया है:—

१— "किबले के ठौर बाप बादशाह शाहजहाँ,
वाको कैद कियो मानो मक्के आगि लाई है!

बड़ो भाई दारा वाको पकरि कै मारि डारयो,
मेहरहू नाहिं मा को जायो सगो भाई है।
खाइ कै कसम त्यों मुराय को मनाइ लियो,
फेरि ताहू साथ अति कीन्हीं तै ठगाई है।
भूषन सुकवि कहे सुनो नवरंगजेब,
ऐसी ही अनीति करि पातसाही पाई है।"

दूसरा उदाहरण और भी विष-सा साबित हुआ उस अभिमानी औरंगजेब के लिए देखिये :—

२— "हाथ तसबीह लिये प्रात करै बन्दगी सी,
मन के कपट सबै सँभारत जपके।
आगरे में जाय दारा चौक में चुनाय लीन्हों,
छत्रहू छिनाय लीन्हों मारि बूढ़े बापके।
सूजा बिचलाय कैद करिके मुराद मारे,
ऐसे ही अनेक हने गोल निज चपके।
भूषन भनत अब साह भये साँचे जैसे,
सौ सौ चूहे खाइकै बिलाई बैठी तपके॥"

बादशाह बेहद क्रोधित हुआ यह सुनकर। क्रोध से पागल हो उसने कवि के वध की आज्ञा दी; किन्तु लोगों के उसके पूर्व-वचन की याद दिलाने पर भूषण की जान बची। बादशाह ने उसी दिन भूषण से कहा कि अब तू मेरी नजरों से दूर हट जा। भूषण अपने निवास-स्थान पर आये, असबाब आदि सँभाला और वहाँ से चल दिये। बादशाह ने कवि भूषण को अपने यहाँ से जाते हुये देख, सवार दौड़ाये उनको रोकने के लिये, किन्तु वे उन्हें रोक न पाये।

इसके पश्चात् भूषण शिवाजी के यहाँ आये। किन्तु कुछ लोगों का ऐसा भी विचार है कि सर्वप्रथम भूषण छत्रसाल के दरबारी रहे, फिर शिवाजी के यहाँ गये। लगता है कि शिवाजी के 'पुण्य-चरित्र' से प्रेरित होकर कवि उनकी ओर आकृष्ट हुआ—

"सिव-चरित्र लखियो भयो, कवि-भूषन के चित्त,
भाँति-भाँति भूषननिसों, भूषित करौं कवित्त।"

इस सम्बन्ध में भी एक कहानी कही जाती है कि भूषण की भेंट शिवाजी से कैसे हुई। भूषण जब औरंगजेब के यहाँ से शिवाजी के पास आये तो रायगढ़ के एक मन्दिर में रुके। कहा जाता है कि शिवाजी भी अपना भेष बदलकर वहाँ आ पहुंचे। यह छानबीन करने के लिए कि यह नया यात्री कौन है और किस प्रयोजन से आया है यहाँ ? जब भूषण से पूछा गया कि वे किस विशेष प्रयोजन से आये हैं तब उन्होंने उत्तर दिया कि मैं महाराज शिवाजी को अपनी कविता सुनाने आया हूँ। भूषण ने भी उस व्यक्ति (परिवर्तित शिवाजी)

का परिचय पूछा। उसने अपने को शिवाजी का एक सैनिक बताया और बोला, मुझे भी कुछ सुनाइए। भूषण ने उसे शिवाजी का समीपी जान कविता सुनाना शुरू किया:—

"इंद्र जिमि जंभ पर बाड़व ज्यौं अंब पर,
रावन सदंभ पर रघुकुल राज हैं।
पौन बारिबाह पर संभु रतिनाह पर,
ज्यौं सहस्रवाहु पर राम द्विजराज हैं।
दावा द्रुम – दंड पर चीता मृगझुण्ड पर,
'भूषन' बितुण्ड पर जैसे मृगराज हैं।
तेज तम अंश पर कान्ह जिमि कंस पर,
यौं मलेच्छ-बंस पर सेर सिवराज हैं॥"

किसी के अनुसार भूषण ने इस कवित्त को ५२ बार पढ़ा और किसी के अनुसार केवल १८ बार ही। इसके अतिरिक्त तीसरे प्रकार के एक ऐसे लोग हैं, जिनका कहना है कि भूषण ने ५२ बार में ५२ अलग अलग छन्द पढ़े थे।

जब भूषण ने छन्द-पठन से इनकार दिया, तब उस सैनिक रूपधारी शिवाजी ने उनसे कहा कि आप दरबार में आइयेगा। दूसरे दिन भूषण दरबार में पहुँचे। देखा, वही सिपाही आज शिवराज बना बैठा है। आश्चर्य में पड़ गये कविजी। जान गये कि कल जिससे भेंट हुई थी, वे शिवाजी ही थे। महाराज शिवाजी ने इनकी बड़ी आवभगत की और इन्हें पुरस्कारार्थ ५२ लाख रुपये, ५२ गांव और ५२ हाथी प्रदान किये। ५२ हाथी मिलने का उल्लेख कविवर लोकनाय (सं० १७८०) ने किया भी है।[१] तत्पश्चात शिवाजी ने भूषण से छन्द सुननेवाली बात को बतलाते हुए कहा कि मैंने कल यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि आप जितनी बार कवित्त सुनाएंगे, उतने लाख रुपये, उतने गांव और उतने ही हाथी इनाम में दूंगा। कहा जाता है कि भूषण ने ऐसे समय में अधिकाधिक मात्रा में नमक खरीदकर अपनी भाभी के पास हाथी पर लदवा कर भेज दिया क्योंकि ताने के अनुसार जीवित गणेश (हाथी) को भी भेजना था और नमक को भी।

यह भी कहा जाता है कि शिवाजी के यहां से जब भूषण घर को लौट रहे थे, तब वे महाराज छत्रसाल के यहां गये। भूषण को महाराज शिवाजी जैसे राजा का राजकवि समझकर इनका बड़ा आदर सत्कार हुआ। यहां तक कि छत्रसाल ने चलते समय भूषण की पालकी का डंडा अपने कंधे पर रख लिया। भूषण प्रसन्नता से फूले न

१— "भूषन निवाज्यो जैसे सिवा महराज जू ने,
बारन दै बावन धरा पै जस छाय हैं।"

समाये। वे पालकी से बाहर आये और उनकी प्रशंसा में कवित्त पढ़ते हुए कहा—'सिवा को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को।'

भूषण घर आने के कुछ समयोपरान्त कुमाऊँ नरेश के यहां गये। चलते समय वहाँ के राजा ने इन्हें एक लाख रुपये बिदाई के रूप में देना चाहा, किन्तु भूषण ने लेने से इनकार कर दिया। यह भी कहा जाता है कि एक दिन कुमाऊँ नरेश ने भूषण से यह पूछा कि क्या मेरे जैसा दानी राजा इस संसार में कोई दूसरा भी है? भूषण ने कहा, एक नहीं, अनेक हैं? उसके इस अभिमान के कारण भी, भूषण ने वह एक लाख रुपया लेना अस्वीकार कर दिया था। इसके पश्चात् भूषण ने दक्षिण की ओर प्रस्थान कर दिया। दूसरी बार दक्षिण जाने पर भूषण का तभी घर लौटना कहा जाता है, जब शिवाजी का स्वर्गवास हो गया। फिर जब साहू सिंहासनासीन हुए तब फिर एक बार से वहाँ जाकर पुनः घर वापस चले आये।

आश्रयदाता और उनका परिचय

भूषण ने जिन-जिन राव-राजाओं अथवा सामंतों का अपनी कविता द्वारा प्रशस्ति गान किया, उनकी दो कोटियाँ हो सकती हैं—स्थायी आश्रयदाता और अस्थायी अथवा जिनसे कवि की आते-जाते भेंट हो गई होगी। स्थायी आश्रयदाता से मेरा मतलब ऐसे लोगों से जिनके यहां कवि अधिक दिनों तक टिका रहा; यथा चित्रकूटाधिपति हृदयराम सोलंकी, महाराज छत्रसाल, महाराज शिवाजी और उनके पौत्र साहूजी। अस्थायी आश्रयदाता से तात्पर्य ऐसे सामन्त अथवा नरेशों से है, जिनसे भूषण की भेंट बहुत थोड़े समय के लिये हुई होगी और उतने समय में ही कवि ने उन्हें अपने काव्य का रसास्वादन कराकर प्रसन्न कर लिया होगा। इस कोटि के आश्रयदाताओं के अंतर्गत बाजीराव पेशवा, शिवाजी के सेनापति चिमणाजी, जयपुर नरेश जयसिंह, रीवाँ-नरेश अवधूतसिंह, राम सिंह, अलीगढ़ नरेश अनिरुद्ध सिंह, बूँदी नरेश बुद्धराव आदि आते हैं। जिनके नाम पर कवि ने दो या तीन ही छंद लिखे हैं उनका परिचय यहाँ नहीं दिया जा रहा है। स्थायी आश्रयदाताओं का परिचय इस प्रकार है।

हृदयराम सोलंकी

ये चित्रकूट के राजा थे। इन्होंने ही भूषण को 'कवि भूषण' की उपाधि दी थी, जिसका उल्लेख कवि के 'शिवभूषण' नामक ग्रन्थ के आरंभ में है :—

"कुल सुलंक चित्रकूटपति साहस-सील-समुद्र।
कवि भूषन पदवी दई हृदयराम सुत रुद्र।।"

इससे यही ज्ञात होता है कि हृदयराम रुद्र के पुत्र थे और सुलंक कुल [illegible] थे; किन्तु कहीं भी भूषण ने यह नहीं लिखा कि हृदयराम कौन थे? अ[illegible] वाक्यों से

यह स्पष्ट हो जाता है कि वे हृदयराम सोलंकी परगना गहोरा (बांदा) राज्य के राजा थे। चित्रकूट इसी प्रान्त के अन्तर्गत ही आता था। सन् १६६६ ई० के लगभग ही सोलंकी ने भूषण को उपाधि प्रदान की होगी।

महाराज छत्रसाल

भूषण ने महाराज छत्रसाल के सम्बन्ध में अनेक प्रशस्तिमूलक छन्द कहे हैं। कई बार इन प्रशंसात्मक छन्दों में कई ऐतिहासिक घटनाओं का भी उल्लेख हुआ है। इस कारण किंचित् विस्तार से महाराज छत्रसाल का परिचय देना अनावश्यक न होगा।

महाराज छत्रसाल बुन्देलखण्ड के जागीरदार चंपतिराय के पुत्र थे। इनका जन्म ज्येष्ठ शुक्ल तृतीया सोमवार संवत् १७०६ वि० में हुआ। जब छत्रसाल ६ महीने के हुए, तब उनके पिता चंपतिराय ने उन्हें उनके ननिहाल भेज दिया। ननिहाल में ये अपनी माता के साथ ४ वर्ष तक रहे। तत्पश्चात् पिता के पास चले आये। पिता के साथ रहते हुये जब बालक की अवस्था सात वर्ष की हो गयी, तब उसके पिता चंपतिराय को उसकी शिक्षा के बारे में चिंता हुयी। सोचा, जंगल में इस बालक की शिक्षा आरंभ होना कैसे संभव है। इस कारण उन्होंने पुनः उसको ननिहाल भेज दिया। उसके दो ही महीने पश्चात् चंपतिराय की मृत्यु हो गयी। ननिहाल में रहकर बालक छत्रसाल ने गणित और भाषा का सामान्य ज्ञान प्राप्त किया।

प्राय: तेरह वर्ष की अवस्था के लगभग छत्रसाल में घर जाने की उत्सुकता जगी। एक दिन घर से निकल पड़े। रास्ते में प्यास लगी। संयोगवश इनके पिता के एक सेवक ने पानी देकर उनकी प्यास बुझाई और उन्हें घर मईवो तक पहुँचा दिया। उनके चाचा सुजानराय छत्रसाल का परिचय प्राप्त कर बड़े प्रसन्न हुये और उन्होंने छत्रसाल की शिक्षा का समुचित प्रवन्ध किया, जिसमें शास्त्र और शस्त्र दोनों प्रकार की शिक्षा का मिश्रण था।

युवावस्था प्राप्त करने पर छत्रसाल अपने पिता के शत्रुओं का बदला लेने का सुअवसर ढूढ़ने लगे। यही नहीं छत्रसाल के समक्ष देश की तत्कालीन पतनावस्था का भी चित्र था जिसमें हर प्रकार से देश संकटकालीन स्थिति से होकर गुजर रहा था। इसे भी वे मुगलों पर आक्रमण करके दूर करना चाहते थे। छत्रसाल की ऐसी मंशा जानकर सुजानराय घबड़ाते। निर्भीक छत्रसाल एक दिन चाचा सुजानराय को छोड़कर अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए चल पड़ा। अपने भाई अंगदराय की राय से ये आमेर के राजा जयसिंह, जो देवगढ़ पर आक्रमण करने जा रहे थे, से जा मिले। मुगल-सेना में मिलकर अपना अद्भुत पराक्रम और वीरता दिखाकर इन्होंने देवगढ़ को जीत लिया। किन्तु छत्रसाल को अपनी अद्भुत वीरता का जो प्रतिफल (Reward) मिलना था वह नहीं मिला। दुखी हुये। छोड़ दिया मुगल-सेना और उसके पक्ष को। मुगलों के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुयी। छत्रसाल स्वाधीनता-स्थापन की सोचने

लगे। परामर्श के लिये किसी योग्य व्यक्ति की तलाश करते रहे। शिवाजी से (सन् १६७१ ई०) मिले। शिवाजी ने इनका यथेष्ट सम्मान और आदर किया तथा यथोचित सहायता भी दी। वहाँ ये लोग शिवाजी के यहाँ रहकर सेना, शासन, कर उगाहने, मुगल युद्ध-नीति आदि से सम्बन्धित विभिन्न बातों की जानकारी भी करते रहे। अनुभव की दृष्टि से भी पक्के बनकर छत्रसाल अब मुगलों के विरुद्ध युद्ध की सोचने लगे। धीरे-धीरे उसके लिये सेना संगृहीत की और संगठन नीति को स्वीकार कर कई बुन्देले सरदारों को अपनी ओर कर लिया। इनके शत्रु भी यह प्रबल संगठन देखकर उनके पक्ष में आ गये और उनकी हर प्रकार से सहायता करने लगे।

सबसे पहले छत्रसाल ने सं० १७२८ (१६७१ ई०) में धंधेरा-सरदार कुँअरसेन पर आक्रमण किया। वह मुगल सरदार हार गया और परिणाम-स्वरूप उसने अपनी भतीजी उन्हें ब्याह दी। अपने एक सरदार को भी उनकी सेना के लिए दे दिया। इसके पश्चात सिरोज के थानेदार मुहम्मद हाशिम खाँ ने छत्रसाल को एक छोटी सेना लेकर रोकना चाहा, किन्तु परिणाम उल्टा हुआ। शाही खजाना लूट लिया गया। इसके बाद धामुनी के सरदार और बाँसी के केशवराय भी परास्त हुए। सैयद बहादुर खाँ (ग्वालियर का सरदार) भी इन्हें पकड़ना चाहता था, किन्तु सफल न हो पाया। ग्वालियर (पर्वांय) लूट भी लिया गया।

छत्रसाल ने सं० १७३५ वि० में एक नगर बसाया, जिसका नाम पन्ना था। इनके परिवार के अधिकांश लोग वहीं रहते थे और स्वयं वे भी सेना के साथ मऊ की छावनी में रहते थे। इस समय तक इनका संगठन बड़ा प्रबल और सुदृढ़ प्रख्यात हो चुका था। अब तक छिपे-छिपे लोग इनसे मिलते थे किन्तु अब खुलकर मिलने लगे—किसी को कोई डर नहीं रहा इनके पक्ष-समर्थन आदि के लिये। छत्रसाल का यह उत्कर्ष कुछ बुन्देले सरदारों को अच्छा न लगा। दौड़कर औरंगजेब के पास पहुँचे। औरंगजेब यह सब सुनकर बहुत भयभीत एवं आतंकित हुआ। उसने अपने प्रधान सेनापति रनदूला खाँ को छत्रसाल के विरुद्ध लड़ने के लिए भेजा। किन्तु वीर छत्रसाल और उसकी सुसंगठित सेना के आगे वे कब तक ठहर सकते थे। हार कर रनदूला खाँ भाग गया। तत्पश्चात् अन्य कई बार सेनापतियों के साथ औरंगजेब ने सेनाएं भेजीं; किन्तु उनको बराबर मुंह की खानी पड़ती थी। सेनापति तहव्वर खाँ को छत्रसाल के मुकाबिले दो बार हारना पड़ा। कालिंजर का किला भी अधिकार में कर लिया गया। कई मुगल सेना-नायकों एवं तत्सम्बन्धी लोगों को हराकर उनसे चौथ वसूल की।

योगिराज प्राणनाथ की आज्ञा के अनुसार सं० १७४४ वि० (१६८७ ई०) में छत्रसाल ने राजा की उपाधि धारण की। राज्याभिषेक हुआ वेद-विहित ढंग से। छत्रसाल का यह अभ्युदय एवं उत्कर्ष देखकर औरंगजेब और भी आग बबूला हो उठा। परिणाम-स्वरूप उसने पुनः सं० १७४७ वि० (सन् १६६० ई०) में अमीर अबदुस्समद को छत्रसाल के

विरुद्ध बुन्देलखण्ड पर आक्रमणार्थ भेजा। यह मुकाबला अन्य मुकाबलों की अपेक्षा बहुत ही भयंकर था। छत्रसाल कई बार घोर संकट में पड़ गये किन्तु अन्त में विजय हुई छत्रसाल की ही। सूबेदार बहलोल खाँ ने इन पर तीन बार आक्रमण किया किन्तु उसे बुरी तरह हराया। बीजापुर के एक पठान ने सं० १७५० वि० में पन्ना पर आक्रमण किया, किन्तु वह मारा गया और उसके अवशिष्ट साथी दक्षिण चले गये। इसी प्रकार सं० १७५७ वि० में सैयद अफगन इनसे भिड़ा। उसे भी परास्त होना पड़ा। अन्त में औरंगजेब ने शाहकुली को भेजा। अन्ततोगत्वा वह भी हारा। यह छत्रसाल का मुगल सेना के साथ अंतिम युद्ध था, क्योंकि सं० १७६४ वि० में सम्राट औरंगज़ेब की मृत्यु हो गयी।

अब छत्रसाल का ध्यान लड़ाई अथवा युद्धों की ओर से खिचकर शासन की ओर गया। उन्होंने अब अपना राज्य सुरक्षित और सुदृढ़ कर लिया। राज्य शासन के लिए छत्रसाल ने शिवाजी का ही अनुकरण किया। अपने जीवन-काल में ही महाराज छत्रसाल ने अपने पुत्रों को अपना राज्य बाँट दिया। इसी समय जब ये ७७ वर्ष के हो चले थे फर्रुखाबाद के नवाब मुहम्मद खां बंगश ने इनके पुत्र जगतराय की जागीर जैतपुर पर आक्रमण किया। जगतसिंह ने मुकाबिला किया। किन्तु हार गया। स्वयं लड़ने में असमर्थ छत्रसाल बड़े पशोपेश में पड़े। इसके लिए उन्होंने बाजीराव पेशवा को एक पत्र लिखते हुये लिखा—

"जो गति ग्राह-गजेन्द्र की, सो गति पहु ची आय।
बाजी जात बुन्देल की, राखो बाजी राय।"

बाजीराव फौरन सहायता के लिये चल पड़े। मराठों और बुन्देलों की सम्मिलित सेना ने बंगश की सेना को बुरी तरह परास्त किया। तब महाराज बाजीराव पेशवा छत्रसाल के पास आये। अपने राज्य का एक भाग देकर छत्रसाल ने उनको धन्यवाद दिया।

इस प्रकार छत्रसाल ८५ वर्ष तक जीवित रहने के पश्चात सं० १७८१ वि० में दिवंगत हुये।

ये बड़े ही वीर, शासन कुशल, उदार, गुणग्राही एवं धर्मात्मा थे। उनका दरबार गुणियों एवं कवियों से भरा रहता था। इन्हीं के दरबार में हिन्दी के वीर-रस के कवि 'लाल' थे। गुण-ग्राहकता तो इनमें इतनी थी कि भूषण की पालकी का डंडा ही उठाकर कवि की प्रतिष्ठा प्रदान के लिए कंधे पर रख लिया। लाल कृत छत्र प्रकाश में महराज छत्रसाल के युद्धों एवं यश का सुन्दर एवं ओजस्वी वर्णन मिलता है। महाराज स्वयं भी सरस और अच्छे कवि थे।

छत्रपति शिवाजी

ये कवि के सर्वप्रमुख आश्रयदाता थे जिनकी प्रशंसा में उसने शिव भूषण-नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके अतिरिक्त कवि ने अनेक स्फुट कविताएँ भी उनकी प्रशंसा में

लिखी हैं। सिसोदिया-वंशावतंश महाराणा प्रताप के कुल में भोंसला उत्पन्न हुए। भोंसला की सन्तान भोंसले नाम से अभिहित की गई। ये लोग दक्षिण में आकर बस गये। मालोजी (मालमकरन्द) इन्हीं के वंशज थे। शाहजी इन्हीं के पुत्र थे। उनकी पत्नी का नाम जीजीबाई था। शिवाजी इसी जीजीबाई के पेट से पैदा हुए।

शिवाजी का जन्म फाल्गुन शुक्ल ३ संवत् १६५८ वि० को सायंकाल शिवनेरी गढ़ में हुआ। इस समय इनके पिता शाहजी घर पर नहीं थे। उस किले की अधिष्ठात्री देवी 'शिवाई' के नाम पर बालक का नाम भी शिवाजी रखा गया। उस समय महाराष्ट्र प्रदेश युद्धों से आक्रांत था। इसके मारे बड़ी अशान्ति और अराजकता थी। जन्म से लेकर तीन वर्ष पर्यन्त शिवाजी को लेकर उनकी माता उक्त किले में ही रहीं। तत्पश्चात् शाहजी ने बंगलौर बुलवा लिया। इसके पश्चात् शाहजी ने शिवाजी को अपने प्रबन्धक दादाजी कोणदेव और उनकी माता के अभिभावकत्व में, पूना के निकट एक जागीर पर भेज दिया। दादाजी कोणदेव ने बालक शिवाजी के पढ़ने-लिखने का समुचित प्रबन्ध कर दिया। इसके अतिरिक्त वे महाराष्ट्री सभी कर्तव्यों की समाप्ति केवल पढ़ाई-लिखाई को ही नहीं समझते वरन् वीरोचित गुणों को भी प्राप्त करने की काफी ललक और अपेक्षा रहती है उनमें। शिवाजी ने दादाजी के संरक्षण में रहकर घुड़सवारी, तीर, बर्छा, तलवार आदि का चलाना सीख लिया। सारी युद्ध-विद्या, सारा रण-कौशल और सारी राजनीति दादाजी ने शिवाजी को सिखा दी जिसका परिणाम यह हुआ कि थोड़ी ही आयु में शिवाजी सेना लेकर अपनी जागीर की देखभाल करके मालगुजारी आदि कर वसूल करने लगे। उनमें स्वदेश, स्वजाति और स्वधर्म के प्रति श्रद्धा की भावना भी उमड़ी

बड़े होकर शिवाजी ने मावली जाति के नवयुवकों को अपना साथी बनाया और उनकी सहायता से एक सेना संकलित की। ये मावली जाति के लोग बड़े युद्ध-प्रिय और लड़ाकू होते थे। उनकी सहायता से १६ वर्ष की अवस्था में शिवाजी ने तोरन का पहाड़ी किला अपने वश में कर लिया। इसके पश्चात् तो अनेक दुर्गों पर आक्रमण करते ही रहे। बीजापुर राज्य के अनेक गढ़ों पर भी इन्होंने कब्जा कर लिया।

यह देखकर बीजापुर की सरकार ने इनके पिता को पकड़कर कैदखाने में डाल दिया और शिवाजी के पास यह कहलवा दिया गया कि जब तक आप अपने इस कुकृत्य से बाज नहीं आवेंगे, तब तक इन्हें मुक्त नहीं किया जायगा। इस बात पर राजी होकर शिवाजी ने बीजापुर के अन्य इलाकों पर धावा करना छोड़ दिया। शाहजी मुक्त कर दिये गये। शाहजी का मुक्त होना था कि शिवाजी पुनः पूर्ववत काम करने लगे। यह देखकर बीजापुर के राजा ने प्रधान सेनापति अफजल खां को शिवाजी के दमनार्थ भेजा। उस समय शिवाजी युद्ध करने की स्थिति में नहीं थे। अतएव उन्होंने कहा

कि मै बीजापुर का एक सेवक-मात्र हूँ। मुझमें कहाँ इतनी ताकत है कि मैं इतनी बड़ी सेना से लड़ूँ। इसके साथ ही शिवाजी ने यह भी कहला भेजा कि आज तक मैंने जो कुछ भी किया है उसे भूल जाइये तो विजित दुर्गों को वापस कर सकता हूँ। इस पर अफजल खाँ को पूर्ण विश्वास हो गया कि शिवाजी वास्तव में क्षमाप्रार्थी हैं। आदमी भेजकर मिलने की बात पक्की हुई और उसके साथ यह कहा गया कि दोनों ही लोग केवल एक-एक आदमी लेकर साथ आवें। शिवाजी से मिलते ही जब तक अफजल खाँ ने अपनी तलवार से प्रहार करना चाहा, तब तक शिवाजी ने अपने बघनखे से उसे समाप्त कर दिया। इसके पश्चात् पुनः बीजापुर की ओर से दो बार प्रयत्न हुए शिवाजी का दमन करने के लिये परन्तु हर बार की भाँति असफल ही रहे।

अब, इधर शिवाजी बीजापुर की ओर से निर्विघ्न हो चुके थे। अतः उनका ध्यान अब मुगलों की ओर गया। मुगलों के किलों पर अधिकार करना आरंभ कर दिया। इसे देखकर औरंगजेब ने दक्षिण के सूबेदार शाइस्ता खाँ को भेजा। शिवाजी ने इतने बड़े दुश्मन से लड़ना औचित्यपूर्ण न समझते हुए सिंहगढ़ चले गये। इधर मौका देखकर शाइस्ताखाँ ने उत्तरी महाराष्ट्र एवं पूना पर अधिकार कर लिया। एक दिन २५ वीरों को लेकर शिवाजी शाइस्ताखाँ जहाँ रहता था, घुस पड़े। शाइस्ताखाँ को जब कुछ न सूझा, तो वह खिड़की के रास्ते से कूद कर भाग गया। शिवाजी सिंहगढ़ चले आये। सुबह होते ही मुगल सेनाओं ने सिंहगढ़ को घेर लिया। ज्यों ही सेना दुर्ग के समीप आयी शिवाजी ने भीषण रूप से गोलाबारी करके उसके छक्के छुड़ा दिये। बहुत से मुगल सिपाही काम आये और बाकी भाग खड़े हुये। इस बड़ी विजय विभूति से शिवाजी का यश एवं ख्याति और भी दिगन्त-व्यापिनी हो गयी।

हौसला बढ़ जाने पर शिवाजी ने अब दूर-दूर की खबर लेनी शुरू कर दी। इन्होंने सं० १७२१ वि० में वैभवपूर्ण नगर सूरत को लूट लिया। वहाँ से जब ये लौटकर रायगढ़ दुर्ग में आये तो यह समाचार मिला कि शाहजी की मृत्यु हो गयी। विधिवत श्राद्ध आदि करके पुनः शिवाजी रायगढ़ वापस चले आये। इस प्रकार शिवाजी अब दिनों-दिन नवीन राज्यों पर प्रभुत्व स्थापित करते जाते थे, जिससे उनकी कीर्ति-पताका भी फहरती जाती थी।

इधर औरंगजेब ने दो व्यक्तियों—जयसिंह और दिलेरखाँ को शिवाजी के दमनार्थ भेजा। दूरदर्शी शिवाजी ने इतनी बड़ी सेना से अपनी शक्ति को परखते हुए लड़ना उचित नहीं समझा, अतएव संधि कर ली। औरंगजेब की ओर से जो शर्तें रक्खी गयी थीं उसे शिवाजी ने अंगीकार कर लिया, किन्तु औरंगजेब ने सं० १७२३ वि० में शिवाजी को निमंत्रित किया। एक हजार मालवी सेना, पांच सौ सवार और अपने प्रिय पुत्र संभाजी को साथ ले शिवाजी मुगल दरबार में पहुँचे। शिवाजी के दरबार में पहुँचते ही

औरंगजेब ने अपना तुच्छ व्यवहार प्रदर्शित करते हुए शिवाजी को साधारण सरदारों में बैठाना चाहा।

आत्माभिमानी शिवाजी ने ऐसा करने से इनकार कर दिया। अत्यंत क्रोधित एवं क्षुब्ध हो बादशाह को बिना सलाम किये हुए ही अपने स्थान पर चले आये।

ऐसा अचूक अवसर औरंगजेब कहाँ छोड़ने वाला था। उसने संभाजी-सहित शिवाजी को कैद कर लिया। अपने को बुरी तरह फँसा हुआ जानकर शिवाजी ने बीमारी का बहाना बनाया। एक दिन मिठाई की एक टोकरी में बैठकर पिता-पुत्र दोनों बाहर निकल आये। वहाँ पूर्व तैयारी के अनुसार दो घोड़े तैयार मिले। उन पर बैठकर शिवाजी मथुरा की ओर निकल आये। अपने पुत्र संभाजी को अपने एक मित्र के यहाँ छोड़कर स्वयं वेष बदलकर दक्षिण चले गये।

दक्षिण पहुँच कर पुनः शिवाजी ने अपने सारे किलों को स्वाधीन कर लिया। फिर साम्राज्य बिस्तार करने लगे। एक बार दिल्ली से निकल आने पर उन्होंने जीवन-भर कभी औरंगजेब पर विश्वास नहीं किया। पूर्व की अपेक्षा अब शिवाजी के साम्राज्य विस्तार के लिए कहीं अधिक मैदान साफ था। अब उनकी राज्य सीमा पहले की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक और विस्तृत हो गयी थी। इसके अतिरिक्त अपनी धाक के जमाव से कई अंग्रेजी रियासतों से चौथ भी वसूलने लगे थे। राज्य-सीमा के विस्तार के कारण शिवाजी ने उसके प्रबन्ध एवं शासन-पक्ष की ओर ध्यान देना आरंभ किया। यद्यपि पहले से ही शिवाजी ने राजा की उपाधि धारण कर ली थी किन्तु वेद-विहित रीति से राज्याभिषेक की तैयारी की। रायगढ़ में काशी के एक पंडित द्वारा सं० १७३१ वि० में शिवाजी का राज्याभिषेक करवाया गया। उनकी पूरी उपाधि छत्रपति महाराज शिवाजी भोंसले हुई।

शिवाजी बड़े वीर, रण-कौशल दक्ष और प्रतिभा सम्पन्न शासक थे। हिन्दूधर्म पर असीम श्रद्धा होने के नाते वे गो-ब्राह्मण एवं साधु-सन्यासियों का भी कम आदर नहीं करते थे। इनका मान रखने के लिए वे अपने प्राणों की बाजी तक लगा देने को तैयार रहते थे। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात शिवाजी के सम्बन्ध की यह है कि जहाँ इन्हें एक ओर हिन्दू धर्म के प्रति अपार श्रद्धा एवं निष्ठा थी, वहाँ दूसरी ओर इन्हें मुसलमानी धर्म से घृणा भी नहीं थी। मुसलमानों की मस्जिदों एवं उनके धर्म-ग्रन्थ कुरान को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते और आदर करते थे। दीन-दुखियों का उद्धार तो जैसे उनका प्रधान कर्तव्य रहा हो।

शिवाजी रण-कुशल योद्धा ही नहीं बल्कि एक उत्कृष्ट शासक भी थे। ऐतिहासिक ग्रन्थों से प्राप्त उनकी शासकीय प्रबन्ध शक्ति को देखकर यह कहना पड़ता है कि वे एक उदार और योग्य शासक थे। उन्होंने शासन के लिए अष्टप्रधान नाम की एक सभा बनायी थी जिसके आठ सदस्य थे—पंत, अमात्य, पंत-सचिव, पेशवा, सेनापति, मंत्री, न्यायाधीश, सुमंत और पंडितराव। एक-एक सदस्य के अधीन एक-एक विभाग होता था। सेना का

प्रबन्ध भी कम सराहनीय नहीं था। जल और स्थल दोनों ही जगह लड़नेवाली सेना का प्रबन्ध था।

संवत् १७३८ वि० में शिवाजी का शरीरपात हो गया।

ऐतिहासिकता—ऊपर भूषण के मुख्य आश्रयदाताओं के परिचय से साफ हो गया कि उनका जीवन कितना परोपकारो, स्वार्थ-रहित, त्याग, सेवा एवं राष्ट्र प्रेम से ओत-प्रोत था। स्वधर्म, स्वजाति और स्वदेश को आततायी एवं अत्याचारी शासकों से मुक्त कराने के लिये ही वे अपनी जिन्दगी युद्धरत रहकर ही बिता देते थे। ऐसा करने के लिये उन्हें अपना सब कुछ स्वाहा करना पड़ता था। वर्षों पुत्र, स्त्री एवं पिता-माता आदि से भेंट नहीं हो पाती थी। जंगल-जंगल की खाक छाननी पड़ती थी किन्तु फिर भी उन अपार धैर्यशाली वीरों के मुख से उफ तक न निकलती थी। असीम त्याग और राष्ट्रीयता के प्रति इस अमर प्रेम को देखकर ही शिवाजी और छत्रसाल को अपने काव्य का नायक बनाया है—भूषण अपने आश्रयदाता शिवाजी के इस गुण को अच्छी तरह जानते थे—तभी तो उन्होंने कहा था—

भूषन यों कलि के कवि राजन राजन के गुन गाय नसानी।
पुन्य चरित्त सिवासरजै सर न्हाय पवित्त भई पुनि बानी॥

वास्तव में उपर्युक्त ऐतिहासिक तथ्यों को देखते हुए यह कहने में कोई संकोच नहीं होता कि भूषण की कविता कविता होते हुए भी ऐतिहासिक सत्यता का पूरा आधार लिये है। इस कारण अपनी कविता द्वारा भूषण ने शिवाजी की जो प्रशंसा की, वह किसी प्रकार भी निराधार अथवा असत्य नहीं कही जा सकती।

इतने पराक्रमशाली एवं देव-तुल्य अदभुत कर्मा शिवाजी एवं उनके अपार वैभव को देखते हुए भूषण ने रायगढ़ का जो वर्णन किया है, वह आलंकारिक अधिक होते हुए भी असत्य या अवास्तविक नहीं कहा जा सकता।

भूषण ने लगभग सभी प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं का जो शिवाजी से सम्बन्धित थीं उल्लेख अपनी प्रशस्तिपरक कविताओं में किया है जिनमें जावली-विजय (सन् १६५६ ई०), बेदर-कल्याण-विजय (सन् १६५७ ई०), शाइस्ता खाँ की पराजय (१६६३ ई०), सूरत की लूट (१६६४-७०), शिबाजी का आगरे जाना, अपमानित होना, क्रोध करना (१६६६), सिंहगढ़ विजय (१६७०), इखलास खाँ, मुहकमसिंह आदि सेना नायकों का सलेहरि नामक स्थान में पराजय आदि मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त भूषण ने अन्यान्य युद्धों का यथावत उल्लेख 'शिव भूषण' नामक अपने ग्रन्थ एवं कतिपय स्फुट पद्यों में किया है। वास्तविक घटनाओं का काव्य में वर्णन होने के नाते थोड़ा उनपर अतिरिक्त कल्पना अथवा भावना का रंगीन आवरण अवश्य पड़ गया है, किन्तु वर्णन के कारण आधारभूत ऐतिहासिक तथ्यों में कोई अन्तर आ गया हो सो बात नहीं। भूषण द्वारा वर्णित अथवा काव्य में सांकेतिक घटनाओं एवं तदनुकूल उनकी ऐतिहासिकता में कहीं

असंयोग नहीं देखने को मिलता है। इस विचार से भूषण का स्थान इस परिपाटी के कवियों में अप्रतिम हैं।

रचनाएँ

भूषण की रचनाओं के विषय में शिवसिंह सरोज में निम्नोक्त उल्लेख पाया जाता है। "इनके बनाये हुये चार ग्रन्थ १, शिवराज भूषण २, भूषण हजारा ३, भूषण उल्लास, ४ दूषण उल्लास सुने जाते हैं। कालिदासजू ने अपने ग्रन्थ हजारा के आदि में ७० कवित्त नवरस के इन्हीं महाराज के बनाये हुये लिखे हैं।" इस प्रकार श्री शिवसिंह जी सेंगर ने ऊपर भूषण की चार कृतियों का उल्लेख किया जिनमें से केवल प्रथम ग्रन्थ शिवराज भूषण अथवा शिवभूषण ही अब तक प्राप्त है और नहीं।

उक्त चार ग्रन्थों के अतिरिक्त 'शिवाबावनी' और 'छत्रसाल दशक' नाम की दो पुस्तकें और भूषण-कृत बतलायी जाती हैं जिनकी चर्चा क्रम से आगे की जायगी। इधर कतिपय वीर-रस और शृंगार-रस की स्फुट रचनायें मिली हैं इनमें एक छन्द शान्तरस का भी है।

शिवराज-भूषण

भूषण की यही रचना उनकी अक्षय कीर्ति का आधार है। यह शिवाजी की प्रशंसा में लिखी गयी है। कवि द्वारा इसके निर्माण का आरम्भ तो हो गया था सं० १७२४ वि० के लगभग ही, किन्तु परिपूर्ण यह संवत १७३० वि० में हुई। इस प्रकार शिवभूषण अथवा शिवराजभूषण की रचना ६ वर्षों की अवधि में हुई। इस रचना में सं० १७२४ (१६५६ ई०) से लेकर सं० १७३१ वि० (१६७३ ई०) तक की घटनाओं का वर्णन प्राप्त होता है।

वर्ण्य-विषय की दृष्टि से सम्पूर्ण ग्रन्थ में शिवाजी के यश-वर्णन का ही प्राधान्य है। कवि ने एक एक अलंकारों के माध्यम से अपने चरितनायक शिवाजी की विभिन्न प्रकार से प्रशंसा की है। प्रथम अलंकारों के लक्षण दोहों में दिये गये हैं और बाद में उनके उदाहरण कवित्त, सवैया अथवा छप्पय छन्दों में दिये गये हैं। प्राय: इन सभी उदाहरणों का विषय शिवाजी की प्रशस्ति ही है। ऐतिहासिक दृष्टि से भूषण रीतिकाल में हुए थे। उस समय कुछ थोड़े से कवियों को छोड़कर प्रायः सभी कवि लक्षण ग्रन्थ प्रणयन करते थे। ऐसा करके वे अपने को न केवल एक कला-निपुण कवि ही सिद्ध करना चाहते थे वरन एक काव्य मर्मज्ञ आचार्य विद्वान भी। जान पड़ता है भूषण को भी इसका चस्का लग गया था जिसके परिणाम स्वरूप लक्षण उदाहरणों से सम्पूर्ण शिव भूषण की रचना की गयी; किन्तु वास्तव में भूषण एक कवि ही हैं, आचार्य नहीं। उनका उद्देश्य ओजस्वी एवं वीर-दर्पपूर्ण काव्य लिखना था, काव्यशास्त्र का विवेचन करना नहीं। अतएव शिवभूषण नामक रचना अलंकार विवेचन की दृष्टि से एक असफल रचना ही कही

जायगी क्योंकि इसमें अलंकार सम्बन्धी अनेक गड़बड़ियां हैं। वैसे मैं आगे कवि के अलंकार विवेचन के अंतर्गत विस्तार से यह विचार करने का प्रयास करूँगा कि भूषण अपने इस अलंकारी विवेचन में कहाँ तक सफल-असफल हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का विचार है—"रीतिकाल के कवि होने के कारण भूषण ने अपना प्रधान ग्रन्थ 'शिवराज-भूषण' अलंकार के ग्रन्थ के रूप में बनाया। पर रीति-ग्रन्थ की दृष्टि से अलंकार निरूपण के विचार से, यह उत्तम ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। लक्षणों की भाषा भी स्पष्ट नहीं है और उदाहरण भी कई स्थलों पर ठीक नहीं हैं।'[1] किन्तु इस गड़बड़ी के पीछे जैसा कि विद्वानों का कहना है कवि के अलंकार ज्ञान का अभाव न होकर शिवाजी के यश-वर्णन का प्रबल आग्रह और तल्लीनता व तन्मयता थी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि 'शिवभूषण' अलंकारिक शैली में लिखा हुआ शिवाजी की प्रशस्ति का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

काव्य के विचार से यह ग्रन्थ बड़ा ही उत्तम और प्रशंसनीय है। वीर और उसके सहगामी रसों रौद्र और भयानक का अच्छा वर्णन इसमें है। भयानक रस का सर्वांगपूर्ण वर्णन हुआ है। बार-बार कवि प्रबल पराक्रमी शिवाजी के आतंक अथवा धाक का वर्णन करता है।

चारित्रिक दृष्टि से भूषण ने शिवाजी के चरित्र में औदार्य, क्षमा, पवित्रता, दान-शीलता, दीन-रक्षण, धार्मिकता, गौ-ब्राह्मण-पालक आदि गुणों को दिखाया है। यही नहीं उनमें इन उत्कृष्ट गुणों की स्थिति के कारण कवि ने उन्हें शंकर का अवतार भी मान लिया है। एक प्रतिभाशाली एवं सर्वगुण-सम्पन्न शासक के रूप में भी शिवाजी का चित्रण उक्त ग्रन्थ में कवि ने किया है। इन सभी दृष्टियों से विचार करने पर यही ज्ञात होता है कि निःसन्देह 'शिवराज भूषण' हिन्दी साहित्य का एक अदभुत ग्रन्थ-रत्न है।

शिवा-बावनी

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह भूषण कृत दूसरी उपलब्ध रचना है। इसमें ऐसे बावन छन्दों का संकलन किया गया है, जो शिवाजी की प्रशंसा में लिखे गये हैं। कहनावति के अनुसार जब भूषण ने शिवाजी से मिलकर उन्हें ५२ अलग-अलग छन्द सुनाये थे, उन्हीं का संकलन 'शिवा-बावनी' नाम से कर लिया गया है। किन्तु जैसा मैं पहले कह चुका हूँ कि जनश्रुति में इससे सम्बन्धित कई प्रकार की बातें पायी जाती हैं कोई कहता है कि भूषण ने केवल १८ बार ही कवित्त पढ़ा था और किसी के अनुसार एक ही छन्द ५२ बार पढ़ा गया और दूसरों के अनुसार ५२ बार में भिन्न-भिन्न छन्द पढ़े गये थे। जो भी हो, शिवा-बावनी नामक रचना को भूषण-द्वारा ५२ बार में ५२ भिन्न सुनाये गये छन्दों का संग्रह ही कहा जाता है।

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पंचमावृत्ति, पृ० २५६।

इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में विद्वानों की धारणा है कि यह स्वयं कवि-द्वारा संग्रहीत नहीं किया गया। इसका संकलन इसके प्रकाशकों ने वीर-रस के पुराने संग्रहों से तथा कुछ भाटों से सुन-सुनाकर ५२ छन्दों के आधार पर 'शिवा-बावनी' के नाम से कर दिया।[1] आचार्य विश्वनाथ प्रसादजी ने लिखा है कि सं० १६४६ वि० के पूर्व इसका अस्तित्व नहीं था! यह बात तब और पुष्ट पड़ जाती है, जब शिवा-बावनी की कोई हस्तलिखित प्रति सम्प्रति काल तक नहीं उपलब्ध होती। कच्छभुज के भाटिया बुकसेलर्स गोवर्द्धनदास लक्ष्मीदास ने संवत १९४६ वि० में सबसे पहले भूषण के कुछ सुने सुनाये छन्दों का संग्रह 'शिवा-बावनी' और 'छत्रसालदशक' के नाम से प्रकाशित किया। इसमें फुटकर छन्द भी संग्रहीत थे।[2] कवि द्वारा अन्तिम रूप से संग्रहीत न होने के कारण इस ग्रन्थ में समय-समय पर संशोधन भी होते रहे। इसी कारण इसमें कुछ छन्द ऐसे भी प्राप्त हो जाते हैं जो दूसरे के कहे जाते हैं। जैसे, सरदार कविकृत 'श्रृंगार-संग्रह' (जिसके अन्त में वीर-रस से सम्बन्धित कविताओं का भी संकलन किया गया है) में निम्नलिखित कवित्त 'गंग' के नाम पर दिया गया है। यह कवित्त गंग ने दानशाहजी की प्रशस्ति में लिखा था :—

"बाने फहराने घहराने घंटा गजन के,
नाहीं ठहराने राव राने देस देस के।
नग भहराने अरु नगर पराने सुनि,
बाजत निसाने दान साहजू नरेस के।
ककुभ के कुंजर कसमसाने 'गंग' भने,
भौन के भजाने अलि छूटे लट केस के।
दल के दरारन तें कमठ करारे फूटे,
केरा के से पात बिहराने सिर सेस के॥

जब ऐसे तत्कालीन संग्रहों में अन्य कवियों की कविताओं के सम्बन्ध में ऐसी गड़बड़ियाँ नजर नहीं आतीं तो इसी के प्रति केवल ऐसा किया गया है—ऐसा किसी तरह नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त शिवा-बावनी में कतिपय छन्द ऐसे हैं, जिनमें शालीनता और सुरुचि का अभाव पाया जाता है—यथा शत्रु-नारियों की दुर्दशा का अंकन।

रस-परिपाक की दृष्टि से यह पुस्तक बहुत उत्कृष्ट और उत्तम है। इसमें संकलित रचनाओं को पढ़ने पर ओज गुण का पूर्ण स्फुरण होता हुआ दिखाई पड़ता है। कवि इसमें रीति-शैली के चक्कर में नहीं पड़ा है। सम्भवतः इसीलिए उसकी स्वतन्त्र कवित्व शक्ति ने वीर-रस-पूर्ण सरस कविताओं की सृष्टि की। इसको देखकर यह कहा जा सकता है कि यदि कवि 'शिवराज भूषण'—नामक रचना में रीति-शैली का आश्रय न लिये होता

१—भूषण—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृष्ठ ८३ प्र० सं०
२—भूषण—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र पृष्ठ ७२ प्र०सं०

तो उसकी रचना में और भी रससिद्धि आ जाती। इस पुस्तक की कवितायें ओज-गुण से छलकी पड़ती हैं।

छत्रसाल-दशक

'शिवा-बावनी' की ही भाँति का यह भी एक संग्रह-ग्रन्थ है। इसमें बुन्देला वीर महाराज छत्रसालकी प्रशंसा बड़े सरस एवं उत्कृष्ट छन्दों में की गई है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, इसका भी अस्तित्व सं० १६४६ वि० से पहले नहीं था। उक्त प्रकाशकों ने ही इसका भी आधुनिक समय में संग्रह तैयार किया है।

काव्य की दृष्टि से यह भी शिवा-बावनी के समान ही उत्कृष्ट और उत्तम है। वीर-रस-परिपाक अपने पूर्ण उन्मेष के साथ मिलता है।

स्फुट-काव्य

विद्वानों की गम्भीर खोज के फलस्वरूप भूषण के कतिपय स्फुट पद्य भी मिले हैं जिनमें से कुछ का सम्बन्ध राजाओं की प्रशंसा अथवा यश-कथन और कुछ का सम्बन्ध शृंगार रस से है। एक छन्द शान्त रस का भी प्राप्त हुआ है। भूषण के मुख्य वर्ण्य-विषय वीर और उसके सहकारी रस तो थे ही किन्तु वे काव्य में अतिशयता से व्याप्त अपने युगीन प्रवृत्ति शृंगार से कैसे आँखें मूँदे रह सकते थे। एक ताज्जुब-सा हुआ था तब तक जब तक एक भी शृंगारी छन्द भूषण से सम्बन्धित नहीं मिला था, क्योंकि उस पूरे युग-दर्शन में बैठी हुई इतनी प्रबल शृंगारिकता से वे अछूते कैसे रह सकते थे? कोई साधु सन्यासी होते तो बात भी थी—ठहरे तो कवि ही।

भूषण के नाम से प्राप्त स्फुट रचनाओं में कुछ सन्दिग्ध छन्द भी हैं—किन्तु कवि के नाम की स्थिति के कारण वे यात्रा करते चले आ रहे हैं। किसी ने रास्ते में उन्हें शायद ही कभी रोका-टोका हो।

काव्यालोचन

भाव-चित्रण

वीरता के विषय में :— भूषण की कविता वीर-रस-प्रधान है। देखना यह है कि वह किस कोटि का वीरत्व है जो साधारणीकृत होकर काव्य के माध्यम से हमें भावमग्न बनाता है। उदात्त वीरत्व एक लोक-व्याप्त गुण है। व्यक्ति के गुणों-अवगुणों का विकास दो ही प्रकार की सीमा-रेखाओं के बीच होता हुआ दिखायी पड़ता है १—जब वह व्यक्ति तक ही सीमित हो और २—जब वह उससे आगे बढ़कर लोक का भी स्पर्श करे। वीरता एक उत्तम गुण है किन्तु जब उसका उपयोग केवल व्यक्ति-हित के ही लिए किया जायेगा तब वह उतना प्रशंसनीय नहीं होगा जितना समष्टि के लिए किये जाने पर होता।

लोकोपकार करता हुआ वीरत्व-गुण ही वीर रस का आलंबन है। जो वीर अपने शौर्य, पराक्रम, शक्ति, तेज आदि विभिन्न गुणों का उपयोग लोक-रक्षा, लोक-मंगल की साधना के लिये करेगा उसी की वीरता हमारे वीर-काव्य का विषय बनेगी। राम, कृष्ण, महाराणा प्रताप, शिवाजी, छत्रसाल आदि ऐसे ही लोकोपकारी वीर थे, जिसके कारण उनका यश-गान आज भी होता है।

इसके अतिरिक्त भी अन्य कतिपय ऐसी बातें हैं जिनका वीरता के अन्तर्गत होना बहुत आवश्यक है। वही वीरता हमारे काव्य का आलंबन बन सकती है जिसमें स्वार्थ की मात्रा बिलकुल न हो। वीरत्व जितना ही व्यष्टि हित से रहित होगा उतना ही वह रस-परिपाक में सहायक होगा। इस प्रकार वीरत्व की सामान्यतः तीन कोटियाँ की जा सकती हैं :—

१—लोक साधक परार्थघटक (उत्तम वीरत्व),

२—कोरा स्वार्थघटक (मध्यम वीरत्व) और

३—स्वार्थसाधक परार्थ विघटक अलोकोपयोगी (निकृष्ट वीरत्व)

इन्हें ही क्रम से सात्विक, राजस और तामस भी कहते हैं। इनमें काव्योपयोगी अर्थात् वीर रस का संचार करने वाला सात्विक या राजस वीरत्व ही होता है।[1]

उत्साह वीरत्व का संपोषक भाव है। सात्विक वीरत्व के शास्त्रीय दृष्टि से अनेक भेद किये गये हैं—दयावीर, दानवीर, धर्मवीर, सत्यवीर, क्षमावीर आदि। किन्तु इनमें प्रधानता दी गयी है युद्धवीर को ही। युद्धवीरत्व में व्याप्ति (Shades) अन्य वीर प्रकारों की अपेक्षा अधिक होती है। यही कारण है कि साहित्य में युद्धवीर की प्रधानता के साथ उससे सम्बन्धित उदाहरण भी अधिक देखने में आते हैं।

वैसे भूषण की कविता में प्रायः सभी रसों का वर्णन मिल जाता है किन्तु प्रधानता वीर रस की ही है। शास्त्र-काव्य से प्राप्त वीर के चारो प्रकारों युद्धवीर, दयावीर, दानवीर और धर्मवीर—का वर्णन उनकी कविता में बड़ी उत्कृष्टता से हुआ है। लेकिन प्रधानता है युद्धवीर की ही। भूषण ने युद्ध-वीरता के जो चित्र खींचे हैं उनमें रस परिपाक अपने पूर्ण उन्मेष को प्राप्त होता हुआ दिखायी पड़ता है। युद्ध-चित्र सजीव, लोम-हर्षक, आतंक—उत्तेजना आदि से पूर्ण हैं। युद्धवीर का निम्नलिखित उदाहरण देखिये :—

"छूटत कमान बान बन्दूकऽरु कोकबान,
मुसकिल होत मुरचानहू की ओट मैं।
ताही समै सिवराज हुकुम कै हल्ला कियो,
दावा बाँधि द्वैषिन पै वीरन लै जोट मैं।

१—भूषण; पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ५२

'भूषन' भनत तेरी हिम्मति कहाँ लौं कहौं
किम्मति इहाँ लगि है जाकी भट-झोट मैं।
ताव दै-दै मूँछन कगूँरन पै पाँव दै-दै,
अरिमुख धाव दै-दै कूदि परैं कोट मैं॥"

युद्धवीर के ही संदर्भ में चतुरंगिणी सेनाओं वीरों की दर्पोक्तियों, योद्धाओं के शौर्य-पूर्ण कार्यों, उनके शस्त्र-अस्त्र युद्ध के बाजे एवं उसके तुमुल कोलाहल आदि के वर्णन हुआ करते हैं। भूषण ने भी उक्त वस्तुओं का वर्णन युद्धवीर का परिपाक करने के लिये किया है। एक से एक उत्तम उदाहरण इन विषयों से सम्बन्धित हमें कवि की रचनाओं में मिलते हैं। युद्धवीर के लिये तलवार एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है—कवि ने छत्रसाल की तलवार का वर्णन करते हुए लिखा है—

"भुज भुजगेस की वैसंगिनी, भुजंगिनी-सी,
खेदि-खेदि खाती दीह दारुन दलन के।
बखतर पाखरन बीच धँसि जाति, मीन
पैरि पार जात परवाह ज्यौं जलन के।
रैयाराव चंपति के छत्रसाल महाराज,
भूषन सकै करि बखान को बलन के।
पच्छी परछीने ऐसे परे परछीने बीर,
तेरी बरछी ने बर छीने हैं खलन के॥"

युद्धवीर के अतिरिक्त कवि अन्य शेष दयावीर, दानवीर और धर्मवीरों का भी वर्णन बड़ी ही चारुता एवं उत्कृष्टता से किया है। सबके अलग-अलग उदाहरण न प्रस्तुत कर नीचे एक ऐसा छंद उद्धृत किया जा रहा है जिसमें कवि ने चार वीर-प्रकारों को एक ही छन्द में बांध दिया है :—

"दान समै द्विज देखि मेरहू कुबेरहू की,
सम्पति लुटाइबे को हियो ललकत है।
साहि के सपूत-सिव साहि के बदन पर,
सिव की कथान में सनेह झलकत है।
भूषन जहान हिन्दुवान के उबारिबें को,
तुरकान मारिबे को बीर बलकत है।
साहिन सौं लरिबे की चरचा चलति जानि,
सरजा के दृगन उछाह झलकत है॥"

इस छन्द में 'उत्साह' स्थायी भाव के चारों रूप दिखाई पड़ते हैं। पहले चरण से दान, दूसरे से धर्म, तीसरे से दया और चौथे चरण से युद्ध वीर की अभिव्यंजना की गयी है।

दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि भूषण ने प्राचीन वीर रस-वर्णन की ऊहात्मक प्रणाली को भी अपनाया है। इस दृष्टि से भूषण अपने रस-वर्णन में चमत्कारवादी अतिरंजना की अपेक्षा परम्परा के अधिक कायल हैं। सैन्य-संचालन से शेष के फण का केले के पत्ते के समान फट जाना, सिन्धु का आन्दोलित-मथित हो उठना, दिनकर का सेना-चाप के कारण उठी हुयी धूल से ढँक जाना आदि कार्य-व्यापार परंपराभुक्त ही हैं। इस कथन को स्पष्ट करने के लिए दो उदाहरण लिये जाते हैं :—

(अ) "दल के दरारन तें कमठ करारे फूटे,
केरा के-से पात बिहराने फन सेष के ।।"

(ब) 'भूषन' भनत नाद बिंहद नगारन के,
नदी-नद मद गैंबरन के रलत हैं।
ऐल-फैल खैल भैल खलक में गैल गैल,
गजन की ठेल-पेल सैल उसलत है।
तारा सो तरनि धूरि धारा में लगत,
जिमि थारा पर पारा पारावार यों हलत है ।।"

इसके अतिरिक्त जहाँ-कहीं कवि के वर्णन परंपरा भुक्त होते हुए अतिरंजित हो गए हैं वहाँ वह स्वाभाविक काव्य से गिर गया है, यथा—

"'आयो आयो' सुनत ही, सिव सरजा तुव नांव।
बैरि नारि दृग जलनि सों, बूड़ि जात अरि गांव ।।"

भूषण की कविता में 'उत्साह' के सभी रूपों का समावेश नहीं हो सका है। इसका कारण यह है कि उन्होंने कोई महाकाव्य अथवा प्रबंध-काव्य न लिखकर स्फुट-काव्य-रचना ही की है। किंतु उसके कतिपय रूप उनकी कविता में मिलते अवश्य हैं। कहा गया है कि 'भूषण की कविता में खुले तौर पर महत्कार्य आलंबन के रूप में इसीलिए नहीं मिलता कि उसमें प्रतिपक्षी बहुत स्पष्ट है।'

कवि ने वीररस के सहकारी रसों का भी वर्णन किया है। रौद्र और भयानक वीर रस के सहकारी रस हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से कतिपय लोगों को यह नागवार मालूम हुआ है कि भूषण बार-बार शिवा जी के धाक से शत्रु-पक्ष को आतंकित और भयाक्रांत दिखाते हैं। किंतु ऐसे लोगों से मेरा निवेदन है कि वे काव्य और इतिहास के अन्तर को पहले ठीक से समझें पुन: विचार कर देखें कि उचित-अनुचित क्या है। निश्चय ही काव्य और इतिहास में अन्तर है। ऐतिहासिक काव्य इतिहास होते हुए भी कुछ उससे आगे की चीज है — अर्थात् ऐतिहासिक तथ्य और भावनात्मकता दोनों के मिल जाने से ऐतिहासिक काव्य की सृष्टि होती है। यों भी इतिहास ग्रन्थों में शिवा जी द्वारा किये गये सहसा आक्रमणों आदि से

उत्पन्न प्रतिपक्षी की भयानकता का बार-बार वर्णन आया है। इसको देखते हुए यदि भूषण ने ऐसा किया तो कोई बेजा कार्य नहीं किया।

रौद्ररस का वर्णन कितना प्रभावोत्पादक है. देखिए:—

"सबन के ऊपर ही ठाढ़ो रहिवे के जोग,
ताहि खरो कियौ छै हजारिन के नियरे।
जानि गैर मिसिल गुसैल, गुसा धारि उर,
कीन्हों न सलाम न वचन बोले सियरे।
'भूषन' भनत महाबीर बलकन लागो,
सारी पातसाही के उड़ाय गये जियरे।
तमक से लाल मुख सिवा को निरखि भये,
स्याह मुख नौरंग सिपाह मुख पियरे।"

इस प्रकार के अनेक उदाहरण भूषण की कविता में देखने को मिलेंगे।

इसके पश्चात् भयानक रस जो वीररस का उपकारक है, का भी बड़ा ही उत्कृष्ट एवं ओजपूर्ण शब्दावली में कवि ने वर्णन किया है।

एक उदाहरण देखिए:—

"कत्ता की कराकनि चकत्ता को कटक काटि,
कीन्हीं सिवराज वीर अकह कहानियाँ।
'भूषन' भनत और मुलुक तिहारी धाक
दिल्ली और बिलाइत सकल बिललानियाँ।
आगरे-अगारन की नाँघती पगारन,
सँभारती न बारन बदन कुम्हलानियाँ।
कीबी कहैं कहा औ गरीबी गहे भागी जाहिं,
बीबी गहे सूथनी सुनीवी गहे रानियाँ।"

भयानक रस का अच्छा परिपाक भूषण की कविता में हुआ है। वैसे इस रस के वर्णन में हुआ यह है कि आलम्बन-रूप में पक्षी तो स्पष्ट है किन्तु प्रतिपक्षी प्राय: प्रच्छन्न है।

भूषण ने वीर के सहकारी रसों के अतिरिक्त वीभत्स रस का वर्णन रुद्र, कालिका के महामहोत्सवों के रूप में परंपरा-प्राप्त प्रणाली पर ही किया है। उदाहरणार्थ:—

'किलकति कालिका कलेजी की कलल करि,
करिकै अलल भूत-भैरो तमकत हैं।
कहूँ रुंड-मुंड कहूँ कुंड भरे स्रोनित के,
कहूँ बखतर करी-झुंड झपकत हैं।

खुले खग्ग कंध धरि ताल-गति-बंध पर,
धाय-धाय धरनि कबन्ध धमकत है।"

ये कहाँ किस प्रसंग में आये हैं उनका निर्देश नीचे की पंक्तियों में किया जा रहा है।

इन रसों के अतिरिक्त भूषण ने करुण, शृंगार, अद्भुत, हास्य और शान्त रसों की भी व्यंजना की है। करुण रस की व्यंजना वहां हुई है जहाँ कवि ने शत्रु-देशवासियों की दुर्दशा एवं शत्रु-स्त्रियों के वैधव्य आदि की चर्चा की है। इनमें से कतिपय रसों के उदाहरण नीचे प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

हास्य रस

अंग-रूप में ही कवि ने इस की चर्चा की है।

"चित्त अनचैन आँसू उमगत नैन देखि,
लोग कहैं बैन आजु कहियत काहि नै।
'भूषन' कहत बूझे आए दरबार तें यौं,
कंप बार-बार क्यौं सम्हार तन नाहिनै।
सीनो धकधकत पसीनो आयो अंगन में,
हीनो भयो रूप न चितौत बाएँ दाहिनै।
सूबन के जेतवार सिवा पर सूबेदार,
जानियत कीनी तुम्हैं अवरँग साहि नै॥"

शांत रस

"देह देह देह फिर पाइयै न ऐसी देह,
जौन तौन जो न जानै कौन जौन आइबो।
जेते मनि-मानिक हैं तेते मन मानिक हैं,
धराई में धरे ते तो धराई-धराइबो।
एक भूख राखै भूख राखै मत भूषन की,
यही भूख राखै भूप भूषन बनाइबो।
गगन के गौन जम गिनन न दैहै,
नग नगन चलैगो साथ नग न चलाइबो॥"

उपदेशात्मक पद्धति पर ही इस कवित्त में शान्त रस का वर्णन किया गया है। इस रस से संबंध रखने वाली रचनाएं एकाध ही हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भूषण ने वीर रस की अभिव्यंजना विभिन्न दृष्टियों से की है। "त्रास या भय के अनेक रूपों की व्यजना अनेक प्रकार की रसात्मक स्थितियों की कल्पना के साथ की गई है। नूतन उद्भावना की क्षमता भूषण में अच्छी थी। अलंकारों के फेर में पड़ने से उसमें भले ही त्रुटि आ गई हो। खीझ, व्याकुलता, दैन्य आदि

की सहायता से शिवाजी के आतंक की व्यंजना में नूतनोद्भावना के अनेक प्रयोग भूषण की रचना में हैं।''[१] इनके कतिपय उदाहरण निम्नोक्त हैं :—

खीझ :—

> ''मुलुक लुटायो तो लुटायो कहा भयो,
> तन आपनो बचायो महाकाज करि आयो है।''

व्याकुलता :—

> ''तोरि कै छरा सों अच्छरा-सी यों निचोरि कहैं,
> तुमरे कहेते कंत मुकतों में पानी हैं।''

दीनता:—

> ''भीख माँगि खैहैं विन मन सब रैहैं,
> पैन जैहैं हजरत महाबली शिवराज पै।''

इस प्रकार अनेक छोटे-छोटे भाव, संचारियों के उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इससे पता चलता है कि भूषण में वीर रस को परिपक्व और पुष्ट बनाने के लिए कितनी कलात्मक सूझ थी।

श्रृंगार रस:—

भूषण रीतिकालीन कवि थे किन्तु इस काल की श्रृंगारिक भाव-धारा में न बह कर अपनी कविता के मुख को एक दूसरी ही ओर मोड़ दिया था। यह मोड़ था श्रृंगार रस के विपरीत वीर रस का, किन्तु एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कोई कवि अपनी युगीन प्रवृतियों एवं परंपराओं से अछूता नहीं रह सकता। उसकी छाप लगती है कलाकार के ऊपर चाहे यह कम मात्रा में हो या अधिक। भूषण भी अपने युग की प्रमुख प्रवृत्ति श्रृंगार से नहीं बंच सके। श्रृंगार रस के ४० छन्द आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित रचना 'भूषण' में मिलते हैं। इन छन्दों को पढ़ने पर ज्ञात होता है कि भूषण ने भी श्रृंगार के लिए वही वर्ण्य-विषय अपनाये हैं जो अन्य रीतिकालीन कवियों ने। शिल्प में भी कोई खास अन्तर नहीं है। हाँ, भाव-व्यंजना की दृष्टि से कहीं थोड़ी सी उद्भावना की गयी जान पड़ती है। उदाहरणार्थ—

> (१) ''रावरेहू आए हाय-हाय मेघराय सब,
> धरती जुड़ानी पै न बरती जुड़ानी मैं।''
>
> (२) ''कारो घन घेरि-घेरि मारयो अब चाहत है,
> एते पर करति भरोसो कारे काग को।''

इन कतिपय स्थलों को छोड़कर श्रृंगार-वर्णन की सारो साज-सज्जा प्राय: पुरानी

---

१ भूषण—आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्र०सं० पृ० ५८।

ही है उनमें कोई नवीनता नजर नहीं आती। भावात्मक तरलता और शिल्प-परिष्कार की दृष्टि से ये रचनाएँ बड़े कवियों की रचनाओं के साथ रखी जा सकती हैं।

बाह्य-दृश्य-चित्रण

प्राय: बाह्य दृश्य-चित्रण में दो प्रकार की योजनायें की जाती हैं—

१—संश्लिष्ट योजना और

२—विश्लिष्ट व स्फुट योजना

विश्लिष्ट योजना विभाव पक्ष का उत्कृष्ट चित्र नहीं खींच पाती, केवल कामचलाऊ चित्रण भर कर देती है। वास्तव में मुक्तक काव्य में दृश्य-चित्रण के लिए स्थान भी उतना नहीं होता। भूषण की कविता मुक्तक वीररस की कविता है। इस कारण उसमें त्वरित गति से घटित होने वाली युद्ध घटनाओं एवं सैन्य-संचालन आदि का ही चित्रण बहुत कुछ जैसा कि पहले दिखा आये हैं—परम्परित् पद्धति पर ही मिलता है। इसके विपरीत उसमें युद्ध अथवा सम्पूर्ण युद्ध-दृश्य का वह संगुम्फित चित्रण नहीं पाया जाता जो कि उसे पूर्णता प्रदान करे। कहना न होगा कि हिन्दी की रीतिकालीन कविता में दृश्य-चित्रण की दृष्टि से इसी विश्लिष्ट या स्फुट योजना को ही प्रयोग में लाया गया है। केशव ने भी प्राय: दृश्य-चित्रण के लिए स्फुट योजना से ही काम लिया है। वस्तुत: हिन्दी रीति-साहित्य में बाह्य दृश्य-चित्रण की परम्परा-भुक्त एक शैली बन गई थी, जिसे अपना कर सभी रीति कवि पार उतरे।

भूषण ने अपने पूर्ववर्ती हिन्दी कवियों की भाँति ही दृश्य-चित्रण किया है। रायगढ़ का वर्णन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह वर्णन अलंकारों से बोझिल है। वर्ण्य वस्तु के लिए इसका अप्रस्तुत विधान परम्पराभुक्त ही है। लगता है कि कवि 'कवि-शिक्षा' से पूर्ण प्रभावित होकर यह सब कर रहा है। रायगढ़ के सम्बन्ध में कतिपय निम्नांकित पंक्तियाँ देखिये :—

"कहुँ बावरी सर कूप राजत बद्धमनि सोपान हैं।
जहँ हंस सारस चक्रवाक विहार करत समान हैं।
कितहूँ विसाल प्रवाल जालन जटित अंगन भूमि है।
जहँ ललित बागन द्रुम लतनि मिलि रहे झिलमिल झूमि हैं।
चंपा चमेली चारु चन्दन चारिहू दिसि देखिए।
लवली लवंग यलानि केरे लाख हौं लगि लेखिए।
कहुँ केतकी कदली करौंदा कुंद अरु करवीर हैं।
कहुँ दाख दाड़िम सेब कटहल तूत अरु जंभीर हैं।
कितहूँ कदम्ब कदम्ब कहुँ हिंताल ताल तमाल हैं।
पीयूष तें मीठे फले कितहूँ रसाल रसाल हैं॥"

आपको अफगानिस्तान के मेवे और छः ऋतुओं का निवास रायगढ़ वर्णन में मिलेगा, साथ ही 'लवली-लवंग यलानि केरे" दाख दाड़िम 'सेब' आदि उत्कृष्ट सरस फल भी रायगढ़ में मिलेंगे। किसी ने कहा है कि रायगढ़ समशीतोष्ण कटिबन्ध में पड़ता है अतएव कवि द्वारा वहाँ बसंत की स्थिति का माना जाना 'कवि प्रौढ़ोक्तिसिद्ध' न होकर प्रकृति सिद्ध भी हो सकता है।'[1]

एकाध स्थलों को देखने पर ज्ञात होता है कि यदि कवि सुरुचि से काम लेता तो संश्लिष्ट चित्रण उसके लिए कोई मुश्किल बात नहीं थी। सश्लिष्ट-योजना की ओर उन्मुख एक दृश्य-चित्रण देखिये :—

"मुकतान की झालरिनि मिलि मनि माल छज्जा छाजहीं।
संध्या-समै मानहु नखत गन लाल अंबर राजहीं।
"जहँ तहँ ऊरध उठे हीरा किरन धन समुदाय हैं।"
मानो गगन तम्बू तन्यो ताके समेत तनाय हैं।
+ + + +
'महत उतंग मनि-जोतिन के संग आनि,
कैयो रंग चकहा गहत रवि रथ के।"

इस प्रकार की योजना एकाध स्थलों पर ही भूषण में प्राप्त होती है। कवि संश्लिष्ट योजना का आश्रय ले सकता था किन्तु लिया नहीं। सोचा होगा कि परम्परा से विमुख कौन हो। भूषण ने आतंक आदि की व्यञ्जना बड़े ढंग से की है। सारुप्य और साधर्म्य के विचार का कवि को बड़ा ध्यान था। कवि ने जितना उत्कृष्ट सैन्य-संचालन अथवा रण-प्रस्थान का वर्णन किया है। उतना रण-स्थल आदि का नहीं। इस तथ्य के उद्घाटन के लिए अनेक पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं।

कला-पक्ष

भाषा-शैली

भूषण की भाषा रीतिकाल की बहुकवि-गृहीत साहित्यिक ब्रजभाषा थी। इस युग के सभी कवियों ने भाषा के भंडार को भरने तथा उसे व्यापक, व्यावहारिक और यथाशक्ति समृद्ध बनाने का प्रयत्न किया है। इसीलिये सम्भवतः उन लोगों ने बुन्देली, खड़ी बोली तथा अन्य हिन्दी की बोलियों से स्वच्छन्दता पूर्वक शब्दों को लेकर पचाया है; साथ ही साथ अरबी-फारसी के शब्दों को भी अपनाकर अपनी भाषा को समृद्ध किया है। ऐसा करने से शुद्ध ब्रजभाषा में एक प्रकार की मिलावट अवश्य दिखाई पड़ती है किन्तु बहुधा उसी की अभिव्यंजना शक्ति के विकास के लिए ही यह सब किया गया था।

---

१. भूषण—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

भूषण की भाषा में भी हिन्दी की विभिन्न बोलियों के शब्द और विदेशी मेल मिलते हैं।

खड़ी बोली :--

जैसा कि विद्वानों का अनुमान है कि हिन्दी के तत्कालीन कवि यह आरम्भ में समझते रहे कि विदेशी भाषा मिश्रित खड़ी बोली मुसलमानों की अपनी बोली है अत: जब उनका प्रसंग आता था तब वे विदेशी मेल से युक्त खड़ी बोली का प्रयोग करते थे। भूषण ने भी यही समझा और किया है। औरंगजेब तथा उससे सम्बन्धित वातावरण का वर्णन करते समय भूषण का वाक्य-विन्यास प्राय: खड़ी बोली मिश्रित हो गया है।

(१) "बचेगा न समुहाने बहलोल खाँ अयाने,
'भूषन' बखाने दिल आन मेरा बरजा।"

(२) "सिवा की बड़ाई औ हमारी लघुताई क्यों,
कहत गरो परिबे को पातसाह गरजा।"

उक्त उदाहरणों में 'भयो' और 'गरो' आदि ब्रजभाषा के शब्द रूप अभ्यास और छन्द के आग्रह के कारण आये हैं। विदेशी शब्दों को अपनाकर उनका प्रयोग बाद में कवियों ने मन चाहे रूप से किया जैसे 'सरीक' शब्द से 'सरीकता' क्रिया का बनाना।[१] 'इसी तरह भूषण ने 'जोर' से 'जोराना' बनाया है। विदेशी शब्दों से निर्मित अनेक क्रियापदों का व्यवहार भूषण की रचनाओं में बराबर देखने को मिलता है। यथा :—

विदेशी-मेल —

(अ) "कीरति के काज महराज सिवराज सब,
ऐसे गजराज कविराजन कौं बकसैं।

(ब) ताते व्है अनेक दोऊ सामने चलत कोऊ,
पीठि दै चलत मुख नाय सरमात हैं।

'मुगलेटे' और 'पठनेटे' शब्द भूषण ने गढ़े हैं।

भूषण की कविता में विदेशी मेल—अरबी, फारसी, तुर्की—अधिक मिलता है। इसका कारण बताते हुए कहा गया है कि भूषण के चरित्रनायक थे शिवाजी। अत: भूषण की कविता उन लोगों के लिए लिखी गयी जो मराठी थे और तत्कालीन मराठी में ६६ प्रतिशत अरबी और फारसी के शब्दों का मेल मिलता है। इस कारण भूषण की कविता में विदेशी मेल की अधिकता एक कारणगत चीज है।[२] मराठी शब्द-प्रयोग भी भूषण की भाषा में कम नहीं है; यथा भठी, हुन्नैं, फिरंगें, गुसुलखाना, माची, नालबन्दी, बरगीआम खास आदि।

१—भूषण—आचार्य पं० वि० प्र० मिश्र पृष्ठ ४७ प्र० सं०

२—रावरो पिनाक में सरीकता कहाँ रही ?—तुलसीदास।

बुन्देली :—

(अ) धीर धरबो न धरा कुतुब के घुर की।

(ब) कीबी कहँ कहा औ गरीबी गहे भागी जाँहि।

बैसवाड़ी:—

(अ) लागैं सब और छितिपाल छिति में छिया।

(ब) काल्हि के जोर्गा कलींदे को खप्पर।

रेखांकित अंशों से तत्तत् बोलियों से संबंधित प्रयोग स्पष्ट हैं।

भूषण ने व्यावहारिक भाषा सर्वसामान्य को बोधगम्य बनाने के लिए अपनायी अवश्य किन्तु विभिन्न प्रादेशिक एवं विदेशी मेल आदि के कारण वह अपने सहज एवं स्वाभाविक रूप में सुरक्षित न रह सकी; उसका रूप बहुत कुछ विकृत हो गया।

कवि ने शब्दों की तोड़-मरोड़ भी कम नहीं की है। तारीफ यह कि यह व्यवहार विदेशी शब्दों के साथ हुआ है। कुछ शब्द देखिये:—

'तनाय' शब्द का प्रयोग भूषण ने किया है। यह फारसी का शब्द है और इसका तत्सम रूप है 'तनाव' जिसका अर्थ है डोर। इसी प्रकार 'बगार' फारसी शब्द प्रयोग है जिसका वास्तविक रूप है 'बलगार' जिसका अर्थ दुर्लंघ्य घाटी है।

इसी प्रकार अरबी के शब्द-प्रयोगों में भी स्वच्छन्दता बर्ती गयी है, यथा—

सरजा (भू०) शुद्ध रूप शरज:=सिंह (अरबी)। इसी तरह न जाने कितने शब्द छाँट कर रखे जा सकते हैं। भाषा में तत्सम शब्दों का प्रयोग तद्भव रूपों को देखते हुए बहुत कम है।

प्राचीन काल से चले आते हुए हिन्दी शब्दों को भूषण ने अपेक्षाकृत कम अपनाया है। जो कतिपय प्रयोग मिलते भी हैं उनका रूप बड़ा व्यावहारिक और चलता है। उदाहरणार्थ—नयर, पुहुमि, बयन, पब्बय आदि।

भूषण की भाषा वीररसानुकूल परुषावृत्तिमयी नहीं है जबकि वीर रस की अभिव्यंजना के लिए यह एक बाहरी विधान के रूप में स्वीकार की गयी है। फिर भी रसानुभूति के लिए यह कोई आवश्यक तत्व नहीं। एकाध स्थलों पर जहाँ अमृतध्वनि छंद का प्रयोग किया है वहीं भाषा इस वृत्ति की ओर कुछ उन्मुख दिखायी पड़ती है। अधिकतर द्वित्व वर्णात्मकता भी ऐसे ही स्थलों पर मिलती है। अमृतध्वनि छंद में विशेष उच्चारण से शब्दों के वर्ण या वर्णों का द्वित्व अथवा संमिलन कर दिया जाता है। परिचित शब्द भी इसी से बहुतों को दुर्बोध हो जाते हैं। वे शब्दों के उच्चारण की विशेष विधि पर ध्यान नहीं देते। जैसे—'बंकक्करि अति डंक क्करि में पाँच शब्दों का व्यवहार हुआ है—बंक, करि, अति, डंक और करि। 'बंक' और 'करि' दो शब्द परुषावृत्ति को केवल उच्चारण के द्वारा विशेष रूप से व्यक्त करते हैं। सामान्यतया बंक

शब्द का उच्चारण करने में वं पर उदात्त स्वर है, पर परुषावृत्ति के लिए दोनों वर्ण उदात्त कर दिये गये हैं। फलतः बंक और करि के मेल में 'क्' वर्ण, बंक का द्वितीय वर्ण 'क्' द्वित्व हो गया है। इसी प्रकार 'सोचच्चकित भरोचच्चलिय विमोचच्चखजल' मूल रूप में सोचत, चलिय, विमोचत, चख जल, शब्द हैं।[1] वीर रस के संदर्भ में शब्द प्रयोगों की यह द्वित्ववर्णात्मकता की परम्परा पृथ्वीराज रासो आदि से ही चली आ रही है।

काव्य-गुणों की दृष्टि से भूषण की कविता में तीनों ही गुण पाये जाये हैं—ओज, प्रसाद एवं माधुर्य। समस्त वीर रस की कविताओं में आपको ओज गुण दिखलायी पड़ेगा। वास्तव में कहना चाहिए कि तीन प्रमुख गुणों में से कवि की कविता में जिस प्रकार वीर रस का प्राधान्य है उसी प्रकार उसके सहगामी अथवा सहकारी ओज गुण की भी प्रधानता है। प्रसाद गुण की भी कमी नहीं है उसकी कविता में। माधुर्य गुण शृंगार रस से सम्बन्धित छन्दों में देखा जा सकता है।

मुहावरे और लोकोक्तियाँ:—

भूषण ने अपनी भाषा मे मुहावरों का प्रयोग कम किया है। कतिपय उदाहरण देखिए :—

(१) दंत तोरि तखत तरें तें आयो सरजा।
(२) मीरन के अवसान गए मिटि।
(३) नाह दिवाल की राह न धाओ।

लोकोक्ति :—

(१) सौ-सौ चूहे खाय कै बिलाई बैठी जप के।

"कवि-कल्पना और भावों के प्रवाह में उन्होंने केवल इस बात का ध्यान रखा है कि उनकी कविता के पाठकों के सामने वीरता, आतंक और युद्धकालीन विप्लव का एक चित्र आ जाय और इस दृष्टि से वे अपने प्रयत्न में यथेष्ट सफल हुए हैं।"[2]

शैली

ऊपर हमने देखा कि भूषण का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। उनकी भाषा में, शैली की दृष्टि से संक्षिप्तता, प्रवाह और सफल अभिव्यंजना-शक्ति वर्तमान है। इसके साथ ही साथ उनकी शैली में सरलता, ओज, निर्भीकता, अलंकरण, कलात्मकता और स्वाभाविकता तथा सहजता आदि गुण पाये जाते हैं।

दरबारी संस्कृति और राजाश्रय-प्राप्त कविता के अनुकूल भूषण की कविता भी

---

१ 'भूषण'—आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्र० सं० पृ० ४९
२ वीर काव्य—डॉ० उदयनारायण तिवारी, द्वितीय सं० पृ० २८२।

मुक्तक थी। दरबारों में पहुँचकर तत्काल राजाओं तथा सभासदों को रससिक्त कर देने के लिए मुक्तक काव्य-शैली ही उपयुक्त थी। उस समय की सारी कविता मुक्तक शैली में ही लिखी गयी। उस समय प्रबन्धात्मक शैली कहीं-कहीं खोजने से ही मिलेगी। भूषण ने भी इसी मुक्तक शैली को अपनाया और उससे शिवाजी के शौर्य, पराक्रम, यश एवं चारित्रिक गुणों को अभिव्यक्त कर वीर रस की अबाध स्रोतस्विनी प्रवाहित की।

मुक्तक शैली की कतिपय वे प्रधान विशेषताएँ जो भूषण की कविता में पायी जाती हैं, निम्नलिखित हैं :—

(१) अलंकारिकता—

इसका निर्वाह कवि ने केवल शिवाजी के चरित्र-चित्रण करने के लिए उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, और अपह्नुति आदि अलंकारों द्वारा 'शिवराज भूषण' नामक अपने अलंकार ग्रंथ में किया है। इसके अतिरिक्त उसकी अन्य तथाकथित कृतियाँ 'शिवा बावनी' और 'छत्रसाल दशक' में उसकी शैली अनलंकृत पद्धति पर चली है। उक्त अर्थालंकारों के अतिरिक्त शब्दालंकारों की भी अच्छी छटा देखने को मिलती है।

(२) ओजस्विता—

अपने चरितनायक शिवाजी और छत्रसाल के यश-कथन के लिए कवि ने इस शैली को अपनाया है। प्राय: सर्वत्र कवि ने ओजस्विता से ही काम लिया है शृंगारी कविताओं को छोड़कर। वीर, रौद्र, भयानक रसों में यह गुण अपने पूर्ण उन्मेष के साथ मिलता है।

(३) वस्तु-वर्णनात्मकता—

इसके अंतर्गत कवि ने बाह्य दृश्य-चित्रण किया है, खासकर रायगढ़-वर्णन आदि के प्रसंग में। इसमें भूषण 'कवि-शिक्षा' से प्रभावित होकर परंपराभुक्त उपमानों का संचयन करते हैं अतएव वे इसमें सफल नहीं कहे जा सकते।

(४) रूपांकन—

रूपांकन के लिए कवि के काव्य में गुंजाइश नहीं थी, क्योंकि उसकी कविता का प्रधान रस वीर रस था। शृंगार रस में आलंबन के चित्रण में रूपांकन की आवश्यकता होती है। शत्रु-नारियों की भयाक्रांत मुद्राओं एवं युद्ध-क्षेत्र आदि के दृश्य-चित्रणों में इसका प्रयोग कवि ने किया है।

(५) दृश्यांकन—

इसके अंतर्गत कवि ने रण-स्थल की विभीषिका, आतंक, युद्ध-जनित भयावह वातावरण एवं प्रतिपक्षी की भयाकुलता का सफल चित्रण किया है। इसमें कवि सफल भी खूब हुआ है और इससे उसकी सूक्ष्म एवं पैनी दृष्टि का पता भी लगता है।

(६) नाटकीयता—

इसके अंतर्गत कवि घटना अथवा दृश्य एवं युद्ध-निरत पात्रों का अंग-संचालन तथा उनकी विभिन्न स्थितियों की मुख-मुद्राओं का अंकन करता है।

(७) व्यंग्य-विनोदात्मकता—

इसका प्रयोग कवि ने प्रतिपक्षी के उपहास आदि करने के लिए किया है। जैसे शिवाजी का नाम सुनते ही औरंगजेब का विक्षिप्त हो जाना आदि। सब मिलाकर यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि भूषण की भाषा-शैली उसके काव्य-प्रवाह में योग देने वाली थी।

छन्द

जैसा कि रीतिकाल की कविता का सामान्य विवेचन करते समय हम देख आये हैं कि रीतिकाल के प्राय: सभी कवियों ने[1]—चाहे वे रीतिमुक्त कवि हों अथवा रीतिबद्ध—सवैया—कवित्त (मनहरण) नामक छन्दों को अपनाया है। भूषण ने भी मुख्य रूप से इन्हीं दो छन्दों को अपनाया है। वैसे इनके अतिरिक्त उन्होंने दोहा, अमृतध्वनि, छप्पय, हरि-गीतिका, लीलावती और गीतिका छन्दों का भी प्रयोग किया है।

इन छन्दों का प्रयोग भूषण ने बड़ी सफलता के साथ उनकी प्रकृति को पहचानते हुए किया है। इन छन्द-प्रयोगों में कवि ने तद्नुकूल भाव, रस, शब्दावली आदि का पूरा-पूरा ध्यान रखा है जिसका परिणाम यह हुआ है कि उनकी सफल भावाभिव्यक्ति के लिए ये बड़े सहायक सिद्ध हुए हैं। फलस्वरूप छन्दों में सगठन, प्रवाह, थोड़े में अधिक कहने की शक्ति आदि गुणों का सफल समन्वय भी हुआ है।

भूषण-द्वारा प्रयुक्त छन्दों की शास्त्रीय स्थिति के विषय में 'रीतिकाल का सामान्य विवेचन' नामक प्रथम परिच्छेद देखिये।

आचार्यत्व

'शिवराज भूषण' नामक रचना में कवि ने अलंकारों का वर्णन किया है। पहले दोहों में वर्णनीय अलंकारों के लक्षण देकर फिर उनके उदाहरण प्राय: कवित्त और सवैये में दिये गये हैं। इन उदाहरणों का मुख्य विषय शिवाजी का चरित्र है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि रीतिकाल में प्राय: कविगण अपने कथ्य को काव्य-शास्त्र के माध्यम से रखने में एक बड़े गौरव और विद्वत्ता की बात समझते होंगे। सम्भवत: उस युग का अधिकांश साहित्य रीतिबद्ध-रूप में ही प्राप्त होता है। इसीलिए शायद काव्य में रीतिबद्धता की एक परिपाटी ही चल पड़ी थी। उसी को भूषण ने भी अपनाया। भूषण ने अन्य काव्यांगों को न अपनाकर एक अलंकार को ही पकड़ा।

---

१ बिहारी आदि एकाध महत्त्वपूर्ण कवियों को छोड़कर।

शिवराज भूषण में कुल १०५ अलंकारों का वर्णन किया गया है जिसमें से १०० अर्थालंकार और ५ शब्दालंकार तथा एक उभयालंकार है। अर्थालंकारों की उक्त संख्या में अधिकांश उसके भेद भी सम्मिलित हैं। भूषण ने अलंकार-भेदों का निर्देशन करते हुए कुछ अलंकारों के सारे भेद दिये हैं और कुछ के कुछ ही भेदों का उल्लेखकर उनके अन्य भेदों को छोड़ दिया है। इसके अतिरिक्त ऐसे भी कुछ विवेच्य अलंकार हैं जिनके लक्षण उसने दिये ही नहीं, केवल उदाहरण ही देकर छोड़ दिया। जैसे, उत्प्रेक्षा का भेद-वस्तु, फल-हेतु, पर्यायोक्ति का द्वितीय भेद, विशेष का द्वितीय भेद और अर्थान्तिरन्यास के सामान्य तथा विशेष भेद।

कहीं-कहीं एक ही छंद में दो अलंकारों के लक्षण घुसेड़ दिये गये हैं। यथा--परिकर और परिकरांकुर, द्वितीय और चतुर्थ विभावना, मालादीपक और सार, लोकोक्ति और छेकोक्ति, छेक और लाटानुप्रास।

इनको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भूषण के अधिकांश अलंकारों के लक्षण और उदाहरण अस्पष्ट तथा दोषयुक्त हैं। सदोष लक्षण वाले अलंकारों में हम विरोध, विरोधाभाव, प्रतीप, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास और संकर को ले सकते हैं।

वैसे तुलना करने पर यह ज्ञात होता है कि लक्षणों की अपेक्षा उदाहरण अधिक अशुद्ध हैं।

नवीनोद्भावना—

भूषण ने 'सामान्य-विशेष' और 'भाविक-छवि' नामक दो नवीन अलंकार माने हैं, किन्तु इनका समाहार क्रम से विशेष निबंधना और भाविक नामक अलंकारों के अन्तर्गत हो जाता है।

इसके अतिरिक्त एक विद्वान् का यह भी कहना है कि—"ललित ललाम (मतिराम कृत) से तुलना करने पर शिवराज भूषण का एक रहस्य और भी खुल जाता है कि अधिकतर अलंकारों के लक्षण तो भूषण ने चुपचाप अपने भाई से ही लिए हैं, कम से कम एक चौथाई लक्षणों की शब्दावली ज्यों की त्यों अपना ली है, यदि कोई परिवर्तन है तो दोनों कवियों के नाम 'मति' तथा 'भूषण' शब्दों के ही कारण और वह भी मात्राओं के लिए, विचारों के आधार पर नहीं।"[१]

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भूषण का रीति-आचार्य के रूप में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है जो कुछ है वह सफल वीर काव्य रचयिता के ही रूप में। रीति की दृष्टि से उनका 'शिवराज भूषण' एक अत्यन्त ही साधारण कोटि की कृति है। यह कहा जा

१—हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (रीतिबद्ध भाग षष्ठ) —ले० डॉ० ओम प्रकाश सम्पादक डॉ० नगेन्द्र पृष्ठ ४५२ प्र० सं०

सकता है कि इस रीति-प्रलोभन ने भूषण की कवित्वमयता को एक ठेस ही पहुँचायी है, जिसके कारण उसका स्वच्छंद और उन्मुक्त उन्मेष नहीं होने पाया। यदि भूषण 'शिवराज भूषण' में अलंकारों के चक्कर में न पड़कर स्वतंत्र ढंग से काव्य-रचना किये होते तो उसका कुछ और भी निखरा रूप होता आज हमारे सामने। इस विचार से देखने पर 'शिवा बावनी' नामक रचना अधिक सरस एवं रससिद्ध ज्ञात होती है। इससे यह कहा जा सकता है कि भूषण भी अन्य रीतिकालीन कवियों की भाँति मूलत: कवि ही थे, आचार्य नहीं।

कतिपय स्थल कतिपय अलंकारों को बड़ी ही चारुता से स्पष्ट करते हैं। देखिए :—

(अ) **परिसंख्या—**

"कंप कदली मैं, वारिबुंद बदली मैं,
सिवराज अदली के राज मैं यो राजनीति हैं।"

(ब) **रूपकातिशयोक्ति—**

'कनक लतानि इंदु, इंदु मांहि अरविंद,
झरैं अरबिंदन तें बुंद मकरंद के।'

(स) **अपन्हुति—**

"चमकती चपला न फेरत फिरंगै भट इंद्र कोन चाप रूप बैरख समाज को।
धाए धुवा न छाए धूरि के पटल मेघ गाजिबो न साजिबो है दुंदुभी अवाज को।।
भ्वैसिला के डरन डरानी रिपु रानी कहैं पिय भजो देखि उदो पावस को साज को।
घन की घटा न गज घटनि सनाह साज भूषन मनत आयो सैन सिवराज को।।

शिवराज भूषण के अतिरिक्त 'शिवाबावनी' एवं 'छत्रसाल दसक' नामक रचनाओं में शब्दार्थालंकारों के बड़े ही हृदयहारी प्रयोग हुए हैं। इन कृतियों से संकलित अधिकांश छन्दों में एक साथ अनेक अलंकारों के प्रयोग हुए हैं। जैसे छत्रसाल की कृपाण का वर्णन करने के लिए जो छन्द काम में लाया गया है उसमें रूपक, उपमा, उदाहरण, काकुवक्रोक्ति, यमक और अनुप्रास का प्रयोग बड़े ही काव्य-कौशल से किया गया है। वास्तव में, अन्त में, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भूषण आचार्य नहीं एक महाकवि थे। अलंकार विवेचन तो उनका साधन-मात्र था।

राष्ट्रीयता के विषय में

मानसिक अथवा बौद्धिक विकास के साथ-साथ हमारी विभिन्न विषयों के बारे में धारणाएँ भी विकसित और परिवर्तित होती चलती हैं। हमारी राष्ट्रीय दृष्टिकोण के विकास की दिशा कुछ इसी तरह की है। भूषण की राष्ट्रीयता पर विचार करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि आज 'राष्ट्रीय' शब्द का जो अर्थ हम लेते हैं क्या कवि के समय में भी

वही अर्थ लिया जाता होगा ? नहीं। उस समय की राष्ट्रीयता का मूलाधार थी हमारी सांस्कृतिक और जातीय-एकता। जब कि आज की राष्ट्रीयता का आधार राजनीतिक-एकता है जिसका विकास उस समय तक कतई नहीं हो पाया था। मौर्य-साम्राज्य के पश्चात् अब तक देश में कोई एक राष्ट्र की स्थापना नहीं कर सका था। जब विदेशी मुसलमान देश में आए तब सामाजिक व्यवहारों में कोई राजनैतिक विरोध नहीं हुआ। बड़े-बड़े राज्यों को उन्होंने जीतकर वश में किया। हिन्दू नरेश इधर अपनी सेना में मुसलमानों को स्थान देते थे और मुसलमान बादशाह उधर हिन्दुओं को बड़े-बड़े पदों पर आसीन करते थे। बहुत से हिन्दू राजाओं ने बिना किसी भेद-भाव के पवित्र भाव से मुसलमानों को अपने आश्रय में बड़े आदर के साथ रखा। गुजरात के हिन्दू राजा बल्हार की राशि-राशि प्रशंसा मसऊदी, इब्नहौकल और सुलेमान आदि विद्वानों ने की है क्योंकि उसने मुसलमानों के साथ बड़ी सहृदयता बरती थी। गुजरात के राजा से बातचीत करते हुए मसऊदी ने लिखा है— "आपके राज्य में इस्लाम का बड़ा सम्मान और बड़ी सुरक्षा है। चारों तरफ मस्जिदें हैं जिनमें मुसलमान नमाज पढ़ते हैं। एक बार खम्बायत के हिन्दुओं ने मुस्लिम व्यापारियों पर हमला किया तो सिद्धराज (१०६४—११४३) ने इस मामले की छानबीन की। उसने हमलावरों को दंड दिया तथा मुसलमानों को नवीन मस्जिद निर्माण के लिए रुपये प्रदान किये।"[१]

भूषण के चरित नायक महाराज शिवाजी भी हिन्दू और मुसलमानों के इसी पारस्परिक मेल-मिलाप के कायल थे। मुसलमानों के प्रति उनकी नीति बड़ी उदार थी। मुस्लिम धर्म को बड़ी पवित्र दृष्टि से देखते थे। यह किसी भी तरह साबित नहीं होता कि मुसलमान धर्म अथवा मुसलमानों के प्रति शिवाजी में कतई कोई घृणा का भाव था। इसके प्रमाण मुसलमान इतिहासकारों के कथन हैं। इस सम्बन्ध में खफी खाँ ने लिखा है—"उन्होंने एक नियम बना दिया था कि जब कभी उनके अनुयायी (अथवा) अधिकारीगण लूट-पाट करें, तब वे मस्जिद के धर्म-ग्रन्थ और स्त्रियों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचायें। जब कभी उनको पवित्र कुरान की कोई प्रति मिली, उन्होंने उसे सम्मानपूर्वक रखा और अपने मुसलमान अनुयायियों को उसे दे दिया। जब कभी किसी मुसलमान की कोई स्त्री उनके आदमियों द्वारा कैद कर ली गयी और उन्होंने उसकी रक्षा करने वाला कोई मित्र नहीं देखा, तो स्वतः उन्होंने उस पर दृष्टि रखी।"[१] शिवाजी की इसी उदारचेता नीति से उनकी ओर भूषण आकृष्ट हुए थे जैसा कि उसने स्वयं कहा है :—

१—Influence of Islam on Indian Culture. P. 44-45
Dr. Tara Chand

२--मुगल एम्पायर इन इंडिया--शर्मा

"सिव-चरित्र लखियों भयो, कवि भूषन के वित्त।
भाँति भाँति भूषननि सों, भूषित करौं कवित्त ।।"

अब प्रश्न यह उठता है कि जब हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच इतनी पारस्परिक प्रीति और प्रेम था, खासकर शिवाजी जब मुसलमानों के प्रति इतनी उदारनीति का व्यवहार करते थे तब भूषण ने मुसलमान औरंगजेब के प्रति इतना बवंडर क्यों खड़ा किया। थोड़ा सोचने पर तत्काल इसका उत्तर भी मिल जाता है। वह यह कि भूषण में औरंगजेब अथवा मुसलमानों-द्वारा हिन्दुओं पर किये जाने वाले अत्याचारों एवं अनाचारों के प्रति गम्भीर असंतोष, प्रतिकार तथा क्षुब्धता की भावना थी। जैसा कि ऊपर कुछ ऐतिहासिक साक्ष्योंके अधार पर कहा गया है कि हिन्दुओं और मुसलमानों में परस्पर प्रीतिभाव था किन्तु औरंगजेब तक आते-आते वह पारस्परिक प्रेम और सद्व्यावहारिकता उसके अत्याचारों एवं अनाचारों के कारण समाप्त हो गयी थी। कहा जा सकता है "मुगल शासकों के अत्याचार पूर्ण शासन से प्रजा अत्यधिक पीड़ित थी—दरिद्रता और बुभुक्षा का साम्राज्य था। देश में अनेक प्रकार के दैवी, मानवीय आतंक व्याप्त थे। सामन्तशाही का बोलबाला था, निरंतर प्रजापीड़न, शोषण होता रहता था, जातिगत पक्षपात के कारण हिन्दू जनता अपने सामान्य मानवीय अधिकारों का भी उपभोग नहीं कर सकती थी, राज कर्मचारी केवल मुसलमान हो सकते थे, हिन्दुओं पर सदैव धर्म परिवर्तन के लिए दबाव डाला जाता था, मन्दिरों को ध्वंस करने का तो औरंगजेब ने आदेश ही प्रचारित कर दिया था।"[1] इस प्रकार वास्तव में इन अत्याचारों के विरोधी थे भूषण चाहे उसका कर्ता कोई भी हो—हिन्दू-मुसलमान। वैसे औरंगजेब तो सारे अनाचारों का मूल था किन्तु उसके अतिरिक्त अन्य हिन्दू राजे औरंगजेब जैसा ही प्रजा के साथ व्यवहार करते थे उनकी भी इस विचार से निन्दा भूषण ने कम नहीं की है। इस प्रकार के हिन्दू राजाओं में हम राजा जसवंतसिंह और उदयभान का नाम बड़ी सरलता से ले सकते हैं। भूषण ने एक स्थल पर उक्त विवेचन से प्राप्त मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि हिन्दू और मुसलमान बहुत दिनों से प्रीति-पूर्वक साथ रहते चले आ रहे थे, किन्तु उसकी मर्यादाओं को औरंगजेब ने तोड़ दिया; साथ ही उसने हिन्दुओं और मुसलमानों की धर्मभावना को भी भड़का दिया—

"बब्बर अकब्बर हुमाऊँ हद्द बाँधि गये,
हिन्दू औ तुरक कुरान बेद ढब की।
और बादशाह मैं दूनी चाह हिन्दुन की,
जहाँगीर शाहजहाँ शाख पूरें तिन की ।।"

---

१ भूषण-मंजूषा-सं०, डॉ० ब्रजकिशोर मिश्र, पृ० २३।

छन्द के दूसरे चरण में भूषण ने यह स्पष्ट ही कहा है कि जहाँगीर अथवा शाहजहाँ आदि औरंगजेब से पूर्ववर्ती बादशाहों में हिन्दुओं के प्रति 'दूनी चाह' हुआ करती थी किन्तु इस (औरंगजेब) में इसके विपरीत है अर्थात् यह हिन्दुओं का पालक न होकर घातक है।

शिवाजी और छत्रसाल औरंगजेब के इन अत्याचारों का एक स्वर से विरोध करने वाले थे; वे उसकी अनीति, अन्याय, दमन, क्रूरता को रोकने में सक्षम थे। इस कारण भूषण को वे प्रजारक्षक, धार्मिक, सज्जन, दीन प्रतिपालक, गो-ब्राह्मण-सेवक, देशोद्धारकर्त्ता के रूप में दिखायी पड़े। कहना न होगा कि इसी कारण कवि ने अपनी वाणी को "पुन्य-चरित्र-सिवा-सर" में स्नान कराकर पवित्र बनाया।'[1] शिवाजी के व्यक्तिगत गुणों की भी प्रशंसा करते हुए कवि अपने विभिन्न छन्दों में नहीं थकता। उसने व्यक्तिगत स्तर पर शिवाजी में सुन्दरता, गुरुता, प्रभुता, सज्जनता, दयालुता, कोमलता, दान, कृपाण-संचालन, विवेक-बुद्धि आदि गुणों की स्थापना की है। शिवाजी के ये समस्त गुण भूषण को इसलिए भाते थे कि उन (गुणों) का उपयोग वे (शिवाजी) औरंगजेब के अत्याचार व अनाचार के प्रतिकारार्थ अथवा सुरक्षार्थ करते थे। भूषण की कविता का बार बार पठन करने पर यही ध्वनि निकलती है कि शिवाजी के चरित्र में न्याय एवं कर्म आदि की प्रतिष्ठा अपने पूर्ण रूप में वर्तमान थी किन्तु औरंगजेव इसके विरुद्ध अन्यायी था जिसके कारण न्यायी (शिवाजी) अन्यायी (औरंगजेब) के अन्यायों के दमनार्थ सदैव कटिबद्ध रहता था। सम्भवत: भूषण को इसी कारण शिवाजी और छत्रसाल सबसे अधिक अच्छे लगते हैं, आश्रयदाता के रूप में उतना नहीं, क्योंकि भूषण की कविता से कहीं भी यह गन्ध नहीं आती कि कवि को रुपये का मोह था, जिसके कारण अपनी रुचि-विरुद्ध भी वह अन्य चीजों को स्वीकार कर लेता; जैसा कि देव आदि कवियों को आश्रयदाताओं की मरजी पर मरखप कर रुचि-विरुद्ध काम करना पड़ा है।

अन्य कई बातों के आधार पर भी भूषण की राष्ट्रीय भावना के पीछे वर्तमान भावधारा का अन्दाज लगाया जा सकता है कि उन्होंने औरंगजेब को कविता सुनाने के पहले हाथ धुलवा लिया तब कविता सुनायी। कवि की रुचि के अनुकूल ही शिवाजी आश्रयदाता के रूप में मिल गये। इस कारण उसकी प्रतिभा का भी पूर्ण प्रस्फुटन हुआ।

इधर तो अब यह दुर्भावना कम हो गयी है वर्ना कुछ समय पूर्व अनेक तथा-कथित आलोचकों ने भूषण को एक साधारण दरबारी तथा पैसे के लिए आश्रय खोजने वाला कवि है, माना था और किसी-किसी ने तो उन्हें साम्प्रदायिक, वैमनस्य-प्रचारक, विचारों का संकीर्ण, अर्थ-लोभी आदि जाने क्या-क्या तक कह डाला था। हमारे महात्मा

१ "भूषन यों कलि के कविराजन राजन के गुन गाय नसानी।
पुन्य चरित्त सिवा सरजे सर न्हाय पवित्त भई पुनि बानी।।"

गान्धी तक भी विद्यालयों में भूषण की कविता को पढ़ाने के पक्ष में नहीं थे। किन्तु भूषण की कविता का एक उत्कृष्ट लक्ष्य था जिसे पाने का उसने प्रयत्न किया और वह उसे पा भी गयी कि शिवाजी की स्तुति-गान का कार्य पूरा हो गया।

भूषण ने अपने जातीयकाव्य-द्वारा तत्कालीन विलासी एवं अकर्मण्य युग में एक ऐसी चेतना जगायी कि जिससे हममें संगठन, निर्भीकता, स्वावलम्बन, सहन-शक्ति आदि गुणों का पुनर्संचार हुआ। संक्षेप में भूषण के काव्य की राष्ट्रीय भाव-धारा के पीछे निम्नोक्त प्रेरणायें एवं प्रवृत्तियां काम कर रहीं थीं।

(१) औरंगजेब अथवा उसके अनुयायियों का अनाचार एवं अत्याचार-सम्बन्धी धारणा।

(२) दुर्दमनीय इन दुष्कर्मों एवं अनाचारों के प्रतिकार और संरक्षण में प्रवृत्त शिवाजी तथा छत्रसाल के चरित्रों की उदात्तता जिसके कारण वे शिवाजी को शिव का अवतार भी मानते थे।

(३) सामन्ती विलास और जनता में व्याप्त अकर्मण्यता से जगने की इच्छा।

देव

जीवन-वृत्त

परिचय—यों तो देव अथवा देवदत्त नामधारी कवियों की संख्या ६ या ७ तक बतायी गयी है किन्तु इनमें सर्व प्रसिद्ध कवि देव का स्थान अलग ही है। इनका पूरा नाम देवदत्त था। 'देव' उसका उपनाम था। लगभग सभी छन्दों में आप 'देव' नाम से ही कवि को पायेंगे।

जन्म—कवि सं० १७३० वि० में पैदा हुआ, क्योंकि उस 'कवि' ने लिखा है कि मैंने अपनी सोलहवीं वर्ष की आयु में 'भाव विलास' नामक कृति की रचना की :—

"शुभ सत्रह सै छियालिस, चढ़त सोरहीं वर्ष।
कढ़ी देव मुख देवता, भाव विलास सहर्ष ॥"

—भावविलास।

इस प्रकार सं० १७४६ वि० में से १६ वर्ष घटा देने पर सं० १७३० वि० कवि का अन्तर-साक्ष्य से प्रमाणित जन्म संम्वत् ठहरता है। 'सरोजकार' शिवसिंह ने देव का जन्य सं० १६६१ दिया है जो अन्तस्साक्ष्य द्वारा प्रमाणित उक्त सं० के समक्ष गलत सिद्ध हो जाता है।

वर्ण-निवास-स्थान :—कवि द्योसरिया (कान्यकुब्ज) ब्राह्मण और इटावे नगर का निवासी था, जैसा कि उसने स्वयं स्वीकार किया है :—

"द्यौसरिया कवि देव को, नगर इटायो बास।
जोवन नवल सुभाव रस, कीन्हों भाव विलास ॥"

—भावविलास।

यही नहीं कवि (देव) के प्रपौत्र भोगीलाल ने भी अपना वंश-परिचय देते हुए लिखा है:-

"काश्यप गोत्र द्विवेदी कुल कान्यकुब्ज कमनीय।
देवदत्त कवि जगत में भये देव रमनीय ॥"

इससे भी स्पष्ट है कि देव काश्यपगोत्रीय कान्यकुब्ज[1] ब्राह्मण थे। शिवसिंह तथा उनको आधार मानकर बाद के अन्य कतिपय लिखनेवालों ने देव को समनि गांव

१—रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता द्वितीय भाग पृ० १५-१६।

जिला मैनपुरी का निवासी बताया है, किन्तु जैसा हमने ऊपर देखा, कवि ने स्वयं अपना वास-स्थान स्पष्ट शब्दों में इटावा बतलाया है। इस कारण हम कवि कथन को ही प्रमाणित मानते हैं। यह भी कहा जाता है कि देव २१ वर्ष की अवस्था में इटावे को छोड़ (पता नहीं किस कारण) कुसमरा चले गये और वहीं रहने लगे—ऐसा उनके वंशधरों का कहना है। कुसमरा नामक स्थान इटावा फर्रुखाबाद वाली सड़क पर इटावे से ३० मील के अन्तर पर स्थित है।

पिता तथा वंशावली—कवि के पिता का क्या नाम था—ऐसा कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता। प्रासंगिक प्रमाणों से प्राप्त तथ्यों के आधार पर देव के पिता का नाम बिहारी लाल दुबे ज्ञात होता है।

वंश-परंपरा के विषय में मौखिक रूप से प्रचलित निम्नलिखित छंद देखिये :—

"दुबे बिहारीलाल भये निज कुल मँह दीपक।
तिनके भे कवि देव कविन मँह अनुपम रोचक॥

पुरुषोत्तम के छत्रपती बाबा-कृति लेखक।
भये खुलासी चन्द्र पुत्र बुद्धिसेनहु जी तक॥
जिनके राजाराम सुत पितु हमरे मतिमान।
तासुत मातादीन यह, दास रावरो जान॥"

"इस वंश-वृक्ष के अनुसार देव के कोई भाई नहीं था। पुत्र दो थे भवानी प्रसाद और पुरुषोत्तम। भवानी प्रसाद के वंशज इटावे में हैं और पुरुषोत्तम के कुसमरा में। देव के पुत्र तो कदाचित् साहित्यिक नहीं थे परन्तु उनके पौत्र छत्रपति अवश्य काव्य से अनुराग रखते थे। मातादीन जी के पास देव माया प्रपंच की जो प्रति सुरक्षित है वह उन्हीं की लिखी हुई है जिसकी प्रतिलिपि शायद उन्होंने अपने वृद्ध पितामह के आदेश पर की होगी। कुसमरा निवासियों में भोगी लाल प्रसिद्ध कवि थे। मातादीन, रामबाबू आदि वहाँ अब भी मौजूद हैं। इटावा में भी पं० नीलकण्ठ ज्योतिषी और श्री राम प्रसाद शास्त्री आदि देव के वंशज जीवित हैं। इस प्रकार देव की आजकल सातवीं और आठवीं पीढियाँ चल रही हैं।[१]"

गुरु और सम्प्रदाय—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा सम्पादित सुन्दरी-सिन्दूर के मुख-पृष्ठ पर यह लिखा था—"श्री राधा चरण-सरोज - राजहंस गोस्वामी हितहरि वंश

१—रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता डा० नगेन्द्र। द्वितीय भाग पृ० १५-१७।

हित जी के द्वादश मुख्य शिष्यों के अन्तर्गत श्री स्वामिनी जी के अनन्य उपासक कवि-शिरोमणि मान्यवर श्री देव कवि रचित……?"

इसको आधार बनाकर पं० बालदत्त जी मिश्र आदि अनेक विद्वानों ने देव को राधावल्लभ सम्प्रदाय का अनुयायी और स्वयं गोस्वामी हितहरिवंश जी को इस सम्प्रदाय में दीक्षित करने वाला उन (देव) का गुरू सिद्ध किया। किन्तु यह मान्यता ठीक नहीं लगती, क्योंकि, गोस्वामी हितहरिवंश और कविबर देव के बीच में पूरी एक शताब्दी का अन्तर है। दूसरी बात यह भी है कि उक्त मान्यता के समर्थन के लिए कवि की विभिन्न कृतियों से कहीं पर कोई अन्तस्साक्ष्य भी नहीं प्राप्त होता—वैसे राधा-कृष्ण की लीला-वर्णनों से कवि की समस्त रचनायें ओतप्रोत अवश्य हैं। कवि का कोई गुरू रहा होगा अवश्य ऐसा शब्द रसायन के मंगलाचरण रूप में लिखित दो दोहों से सूचित होता है :—

देव चरित गुरु देव की महिमा कहि जग भौन,
अघ-अजगर लीलै न तरु, जियत निकासै कौन ?
श्री गुरुदेव कृपालु की, कृपा-सुबुद्धि समीप,
तिमिर मिटै प्रगटै हृदय-मन्दिर अनुभव-दीप।
—शब्द रसायन।

निष्कर्ष निकालते हुए डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है—'शब्द-रसायन कवि की वृद्धावस्था की कृति है—इसके उपरान्त उसने वैराग्य परक कविता ही की है। अब, ये गुरु कौन थे, कहाँ रहते थे—इसके विषय में कुछ कहना कठिन है। सम्भव है राधा वल्लभीय सम्प्रदाय के कोई साधु हों, परन्तु इसका विश्वस्त प्रमाण नहीं मिलता। देव की राग-विराग की कविता पर भी राधा-वल्लभीय सम्प्रदाय की कोई विशेष छाप नहीं है। देव के वंशज भी निश्चित ही इस सम्प्रदाय के अनुयायी नहीं हैं, और न वृन्दाबन आदि में पूछ-ताछ करने से ही उक्त मत की पुष्टि होती है। अतएव यह मानने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती कि किसी जनश्रुति पर आधृत होने के कारण ये शब्द भी भ्रान्त हैं।'[1]

कवि के आश्रयदाता—देव ने अपने अनेक आश्रयदाताओं के लिए अनेक रचनाएं कीं। तत्कालीन राजाओं और उनके दरबार में रहने वाले कवियों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कविता उस समय के कवियों के लिए एक जीवन-वृत्ति थी, व्यवसाय थी, जिससे उनका और उनके परिवार वालों का भरण-पोषण होता था; 'अर्थ कृते' पहले थी 'यशसे' आदि बाद में, क्योंकि न चाहते हुए भी आश्रयदाता की टोह करनी ही पड़ती थी।

१—रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता पृ० २७।

देव के प्रथम आश्रयदाता हैं साम्राट औरंगजेब के तृतीय पुत्र आजमशाह। आजमशाह बड़ा विद्वान, सहृदय, साहित्य-पारखी, वीर एवम् गुणज्ञ था। उसकी संरक्षता में काव्य-रचना के अतिरिक्त काव्य-ग्रन्थ का संपादन भी हुआ। बिहारी सतसई को उसने क्रमबद्ध करवाया जो आजमशाही क्रम के नाम से आज भी प्रसिद्ध है। अपनी पहली रचनाओं—भाव विलास और अष्टयाम—को देव ने इसी को सौंपा। उसने इन (रचनाओं) की बड़ी प्रशंसा की :—

दिल्लीपति अवरंग के आजम साहि सपूत।
सुन्यो सराहयो ग्रन्थ यह अष्टयाया संजूत ॥

ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहना मुश्किल है कि देव और आजमशाह की भेंट दिल्ली में हुई अथवा दक्षिण में? इतिहास ग्रन्थों को देखने पर यह पता चलता है कि उस समय ओरंगजेब दक्षिण में आक्रमण कर विभिन्न रियासतों को ध्वंस कर रहा था और राजकुमार आजमशाह उसी की देख-रेख में सैन्य-संचालन कर रहा था।

कुछ समय पश्चात् औरंगजेब ने सं० १७५१ के लगभग आजमशाह को गुजरात प्रान्त का शासक बना दिया और अब राजकुमार मोअज्जम औरंगजेब का कृपापात्र बन गया। जब सं० १७६४ वि० में औरंगजेब मर गया और चारो राजकुमारों में मयूर-सिंहासन के लिए पारस्परिक युद्ध हुआ तो उसमें आजमशाह मारा गया। आजमशाह की मृत्यु के साथ ही कवि देव का भी सम्पर्क दिल्ली-दरबार से छूट गया।

ग्रन्थ-रचना-क्रम की दृष्टि से देव के दूसरे आश्रयदाता थे भवानी दत्त वैश्य। ये दादरीपति राजा सीताराम के भतीजे थे। राजा सीताराम दिल्ली के सम्राट शाहजहाँ के खजान्ची थे। इन्हें राजा की उपाधि मिली थी। इन्होंने ही दिल्ली में सीताराम बाजार भी बसाया। इनके भतीजे भवानी दत्त वैश्य बड़े गुणज्ञ एवं काव्य रसिक थे। कवि ने उनकी प्रशंसा उन्हें इन्द्र, कुबेर और कल्पतरु आदि कहकर की है।

फफून्द के कुशल सिंह देव के तीसरे आश्रयदाता थे। इसी बीच कवि इटावा से कुसमरा गया और पुनः वहीं से फफून्द। उक्त आश्रयदाता के विषय में कवि ने लिखा है :—

"कुसल सरूप भूप भूपति कुसल सिंह,
नगर फफूंद धनी फूले जस जाहि के।
करन के करन सपूत सुभ करन के,
सेंगर महीप कुल दीप मधु साहि के॥"
—कुशल विलास।

उक्त छन्द से स्पष्ट है कि कुशल सिंह सेंगर वंशीय क्षत्री थे तथा उनके पिता का नाम शुभकर्ण सिंह था और फफून्द उनके राज्य की राजधानी थी। चूंकि देव ने इस आश्रयदाता

के वैभव एवं ऐश्वर्य की जी खोलकर प्रशंसा की है जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वह (कवि) यहाँ कुछ समय तक ठहरा अवश्य रहा।

अब तक देव की आयु ३० वर्ष की हो चुकी थी। इस समय तक उसको तीन आश्रयदाताओं के यहाँ जाना पड़ा था, परन्तु इन तीनों में से कोई ऐसा न हुआ जो कवि के लिए स्थायी आश्रयदाता सिद्ध होता, कवि की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति कर उसे तत्सम्बन्धी चिन्ताओं से विमुक्त कर देता। दूसरे, जैसा देव के प्रसिद्ध आलोचकों का कहना है कि कवि को तत्कालीन राजा-रईसों की जानकारी भी बहुत कम थी। इसका परिणाम यह हुआ कि कवि को अभीष्ट आश्रयदाता की टोह में वर्षों इधर-उधर भटकना पड़ा। इसी समय कवि ने एक लम्बी यात्रा भी की।

सम्वत् १७८३ के आसपास कवि की एक उदार एवम् गुणज्ञ आश्रयदाता से भेंट हुई जिसका नाम भोगी लाल था। कवि ने अपनी रसविलास नामक कृति इसी को समर्पित की। निम्नोद्धृत छन्दों को देखने पर इसका पूरा पता लग जाता है कि कवि ने जितनी बड़ाई भोगीलाल की की है उतनी अपने किसी अन्य आश्रयदाता की नहीं।

"पावस घन चातक तजै, चाहि स्वाति जल विन्दु,
कुमुद मुदित नहिं मुदित मन जी लौं उदित न इन्दु।
देव सुकवि तातें तजें, राइ, रान, सुलतान,
रस विलास सुनि रीझिहैं भोगीलाल सुजान॥
भूलि गयौ भोज, वलि, बिक्रम बिसरि गये,
जाके आगे और तन दौरत न दीदे हैं,
राजा, राव, राने, उमराव, उनमाने,
उन माने निज गुन के गरब गिरबीदे हैं।
सुयश बजाज जाके, सौदागर सुकवि,
चलेई आवैं दसहू दिसान के उनीदे हैं,
भोगीलाल भूप लाख-पाखर लिवैया, जिन,
लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं॥"

उक्त छन्द से भोगीलाल जी का इतना ही परिचय मिलता है कि वे गुणज्ञ, काव्यरसिक और देव के अतिरिक्त अन्य कवियों का भी सम्मान करने वाले थे। इसके अतिरिक्त उनके विषय में अन्य कहीं से भी कोई जानकारी नहीं प्राप्त होती। वे 'भूप' भी होंगे, जैसा कि कवि ने उक्त छन्द में लिखा है। कवि भोगीलाल भूप को पाकर उपर्युक्त तीन आश्रयदाताओं—आजमशाह, कुशल सिंह राय और भवानीदत्त सेठ—के साथ भोज, विक्रम और वलि जैसे प्रसिद्ध दानियों को भी भूल गया। लेकिन कवि की मानसिक स्थिति

रसविलास की समाप्ति तक बदल जाती है—लगता है कि भोगीलाल और कवि के बीच चाहे जिस कारण हो अन्तर अवश्य आ गया था—जैसा कि कवि की स्वयं की पंक्तियों से स्पष्ट है :—

"बीचु मरीचन के मृग लौं अब धावै न रे सुन काहू नरिन्द के।
इन्दु सौ आनन तू जु चितै अरविन्द-से पांयन पूजि गुविन्द के।।"

अभिलषित आश्रयदाता अथवा वातावरण की प्राप्ति के अभाव में कवि का मन बीच-बीच में खिन्न और उदास हो उठता है और वय: वृद्धि के अनुसार वह प्रगाढ़तर होता चलता है। अन्त में वह अपनी पूरी परिपक्वावस्था को प्राप्तकर लोक की ओर मुड़ कर अलोक (विराग-विश्रान्ति) की बात करने लगता है, जैसा कि कवि की अन्तिम समय की शान्त रस प्रधान रचनाओं से स्पष्ट है।

इतना होते हुए भी कवि को अन्य आश्रयदाता की खोज करनी ही पड़ती थी, क्योंकि जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति किसी न किसी प्रकार होनी ही चाहिए थी। इसके लिए राज्याश्रय से बढ़कर और कोई साधन न था इसी विवशता में फंस कर उन्हें रुचि-विरुद्ध भी सब कुछ करना पड़ता था। उन्होंने अपनी कृति प्रेम-चन्द्रिका का समर्पण उद्योत सिंह को किया। कवि ने इनका परिचय देते हुए लिखा है :—

मरदन सिंह महीप सुत वैस वंश विद्योत।
करो सिंह उद्योत को राधा हरि उद्योत।।

—प्रेम चन्द्रिका

प्रेम चन्द्रिका का अनुशीलन करने से यह पता लगता है कि कवि यहां भी बहुत दिनों तक ठहरा नहीं।

कवि के एक अन्य आश्रयदाता पातीराम के पुत्र सुजानमणि भी थे, जिनके नाम पर कवि ने सुजान विनोद की रचना की। पातीराम जी, जैसा कि कवि ने उक्त ग्रन्थ में इनका परिचय दिया है, दिल्ली के रईस, राजा नरोत्तमदास के पुत्र और जाति के कायस्थ थे। इनके सुपुत्र सुजानमणि बड़े काव्यरसिक और उदार थे। कवि ने सुजानविनोद के कई छन्दों में अपने उक्त आश्रयदाता की प्रशंसा की है :—

"राय सुजान सुजानमणि, धनि धनि धर्म विलास।
इन्द्र सकल कायस्थ कुल, इन्दरप्रस्थ निवास।।

कुंजर विराजै द्वार गुंजरत भीर तीखे,
तरल तुरंग रंग रंग सुभ थान के।
दंपति सुफल बोलि संपति लहलहात,
बहुल विलास, ज्यों महल मघवान के।

कहाँ लौं बखानौं 'देव' सगुन उदारता के,
भूपति से भिक्षुक निवाजें दिन दान के।
पुन्य के प्रभाव लखि लखि श्री लुभाइ ऐसे,
साहिब-सुभाय राइ साहिब सुजान के।।

पुनः—

पतीराम नन्दन प्रतापी संकसापति की,
कीरति कहानी जोति जागती जलप की।
सत्नुन के सोखे परिपोखे परिवार तोखे,
'देव' गुन पितरनि राखै न कलप की।
दान झरि झंप चित चंपत कुबेर धन,
सम्पति अधीन कीन्ही दासी ज्यों तलप की।
श्रीपति के अंक सिय सोवे निःसंक सके,
मान के कलपतरु सोभा संकलप की।।
भूप स्वयं भूपर किये तुच्छ भिच्छुकनि गोत।
नृप सुजान संकलप-सों, अलप कल्पतरु होत।।"

—सुजान विनोद।

इनके अन्तिम आश्रयदाता थे अकबर अली खाँ जो महमदी राज्य के अधिपति थे और पिहानी इनकी राजधानी थी। अकबर अली खाँ वीर, उदार होने के साथ काव्य-रसिक भी खूब था। कवि ने सुखसागरतरंग नामक ग्रन्थ उन्हें समर्पित किया था। इस ग्रन्थ के छन्द नीचे दिये जाते हैं जो उक्त आश्रयदाता के परिचय एवं गुण-ग्राहकता को बताते हैं।

(१) परिचयात्मक—

"सानी सिंह दलीप महीपति पुरी-पिहानी।
सदरजहानी सदरजही जू की रजधानी।।
जिंहि सुपुत्र मुर्तजा मुहम्मद सैद तासु सुत।
सैद मुकद्दर तासु तासु खुर्रम अति अद्भुत।।
तिहि पुत्र अबादुल्ला सुखद जाकी जग महिमा भली।
तिहि तनय महमदी-महीपति खानबली अकबरअली।।"

(२) गुणज्ञता की प्रशंसा—

ऐसो कौन आज जाकी सोहत समाज जहाँ,
सबको सुकाज साहिबी को सुख साज है।

'देव' गुण संत मंत, सामंत समाज,
राज-काज को जहाज दिलदरिया दराज है।
जा पै इतरात ता, गनीम सिरगाज,
वग बैरिन पै बाज सैदवंश सिरताज हैं।
सानी सुर-राज, जो पिहानी-पुर राज करैं,
मही मैं जहाज, महमदी महराज है ॥
—सुख सागर-तरंग।

इस आश्रयदाता से मिलने के समय तक कवि की आयु ६४ वर्ष की हो चुकी थी क्योंकि अकबर अली का समय सं० १८२४ से शुरू होता है।

देशाटन—कवि ने काफी देशाटन भी किया था ऐसा दो ग्रन्थों-जातिविलास और रसविलास से पता चलता है। इन दो ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न देशों की विभिन्न स्त्रियों का वर्णन किया गया है जिनमें तत्तत् प्रदेशों की भौगोलिकता की पूरी झलक मिल जाती है। इसका आधार देव-साहित्य के पण्डित मिश्रबन्धु और आचार्य शुक्ल का यह कहना है कि कवि ने अनेक लम्बी यात्राएं अवश्य की थीं। जातिविलास नामक ग्रन्थ में कवि ने मगध, मालवा, केरल, द्रविड़, कश्मीर तथा भूटान प्रदेशों की स्त्रियों के रूप, गुण, स्वभाव और वेशभूषा आदि का भूगोल-सम्मत वर्णन किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि कवि ने देशव्यापी पर्यटन किया था।

किम्बदन्तियाँ—कवि के महत्व के अनुकूल ही उससे सम्बन्धित किंवदन्तियाँ भी गढ़ी जाती हैं और वे उस कवि विशेष के जीवन पर अप्रामाणिक रूप से ही सही, महत्व-पूर्ण प्रकाश अवश्य डालती हैं। कवि देव के विषय में भी अनेक किंवदन्तियाँ कही जाती हैं जो उसे सिद्ध कवि सिद्ध करती हैं। उनमें से कतिपय किंवदन्तियाँ नीचे दी जा रही हैं।

(१) एक बार देव भरतपुर के राजा के यहाँ पहुँचे। उस समय वहाँ एक किले का निर्माण हो रहा था। कवि को सामने पा राजा ने कहा 'कवि जी कुछ सुनाइए।' कवि जी ने कहा 'महाराज इस समय कुछ सुनाने के लिए मेरी सरस्वती मुझे आज्ञा नहीं देती।" परन्तु महाराज के बार-बार आग्रह करते रहने के कारण कवि ने कुछ छन्द सुनाये। उसी में से एक छन्द ऐसा पढ़ा कि जिसका तात्पर्य था कि नव निर्मित किले में खोपड़ियाँ लुढ़-केंगी। कहा जाता है कि यह उक्ति उसी रूप में बाद में सत्य साबित हुई।

(२) इसी प्रकार दूसरी बार पुनः भरतपुर के राजा ने कवि को बुलवाया और कविता सुनने की इच्छा प्रकट की। मनमौजी कवि देव ने पुनः कह दिया—'महाराज अभी सरस्वती की ऐसी आज्ञा नहीं है।' इस पर राजा ने कहा—"मैंने सोचा था कि आज आप जितने छन्द सुनायेंगे उतनी लाख मुद्राएं दूंगा—ऐसा न कर आप अपनी ही हानि कर रहे हैं।" स्वाभिमानी कवि देव ने इस पर कुछ शान्त रस प्रधान छन्द सुनाये। कवि और

राजा के बीच गर्मागर्मी हो गयी। ताव आने पर राजा को दृष्टि बिन्दु में रखकर कवि देव ने निम्नोद्धृत दोहा पढ़ा :—

"पीताम्बर फाटयो भलो, साजो भलो न टाट।
राजा भयो तो का भयो, रह्यौ जाट को जाट॥"

राजा जाट था। वह बहुत बिगड़ा। कवि को जेलखाने की आज्ञा दी, किन्तु कवि देव रात को वहाँ से किसी तरह भाग निकले।

(३) एक बार अलवरनरेश कुसमरा आये। वृद्ध कवि देव को बड़ी ही दीन अवस्था में देख द्रवित हो उठे और बोले—'कवि जी आपका मकान बहुत जीर्ण एवम् जर्जर हो गया है, कहिये तो मैं एक सुन्दर मकान बनवा दूँ।" इस पर देव ने निम्नांकित छन्द पढ़ा।

"काहू न संग गई गनिका जिमि को, न कोपि गयो कुपरी कौ।
देव तू काको भयो बिगरै सठ, झूठौ झिरै झिगरै झुपरी कौ॥
राखि मैं राखि सकैगो जू राखत जात न चन्दन की चूपरी कौ।
खान मसान मैं खैंचिहैं खोखरि, जंबुक खोहनि मैं खुपरी कौ॥"

पुनः एक दिन वही राजा मछली के शिकार के लिये निकला। तालाब में वंशी डाली तो वह नीचे कहीं फँस गयी। कवि जी भी राजा के साथ ही थे। राजा ने पूछा—'कवि जी वंशी कहाँ फंस गयी ? पानी के अन्दर ऐसा कौन है ?"—कवि चिढ़कर बोले—पानी के भीतर तीतर है।" राजा को कवि का यह कथन बिलकुल असंगत जान पड़ा। परिणाम स्वरूप कवि को धमकाते हुये बोले—"मैं इसका पता करवाऊँगा यदि पानी के अन्दर तीतर न हुआ तो आपको दण्डित किया जायेगा।' तालाब में डूब कर देखा गया तो तीतर ही मिला। रात को कवि जी को एक स्वप्न दिखायी पड़ा जिसमें यह कहा गया कि 'आपके अज्ञान के कारण मुझे तीतर बनकर कष्ट उठाना पड़ा, अब आगे ऐसी नासमझी मत करना।' जगने पर प्रातः देव स्वप्न की बात याद कर भाव विभोर हो उठे और निम्नलिखित छन्द उस देव की प्रशंसा में पढ़ा :—

"चाहै सुमेर को छार करै, अरु छार को चाहै सुमेर बनावै।
चाहै तो रंक को राव करै, चाहै राव को द्वार ही द्वार फिरावै॥
रीति यही करुणाकर की कवि 'देव' कहै बिनती मोहि भावै।
चींटी के पाँय में बाँधि कै हाथी, वह चाहै समुद्र के पार लगावै॥"

मृत्यु—कविवर देव सं० १८२४ वि० तक अवश्य जीवित रहे क्योंकि उनके अन्तिम आश्रयदाता थे अकबर अली खाँ और उनके राजत्व का आरम्भ सं० १८२४ से होता है। इस आश्रयदाता को कवि ने अपना अन्तिम संग्रह ग्रंथ सुखसागर तरंग समर्पित किया था।

इसके पश्चात् की कवि की अन्य किसी रचना की सूचना नहीं मिलती। अतएव हमें सं० १८२४ वि० के आस-पास ही कवि की मृत्यु माननी पड़ेगी। कवि इस समय तक ८४ वर्ष का हो गया था। कहा जाता है कि उसका शरीरान्त कुसमरा में ही हुआ।

व्यक्तित्व

साहित्य की मौलिकता ही साहित्यकार के व्यक्तित्व का आधार होती है। रीतिकाल एक परिपाटी अथवा रीतिबद्ध कविता का काल था। उसके अभिव्यंजन की एक निश्चित शैली और लीक थी जिस पर न्यूनाधिक मात्रा में उस काल के सभी कवि चले थे। इस प्रकार एक ही मार्गानुयायी होने के कारण देव ही नहीं तत्कालीन सभी कवियों की कविता अवैयक्तिक-सी हो गयी है। यह अवैयक्तिकता खासकर उस युग के शिल्प-विधान में देखी जा सकती है। किन्तु यह सब होते हुए भी सूक्ष्म विचार करने पर यह देखा जा सकता है कि किसी भी महत्वपूर्ण साहित्यकार के कृतित्व में कुछ न कुछ ऐसे तत्व होते अवश्य हैं जो उसके व्यक्तित्व का ताना-बाना बुनते ही हैं। उनके लिए सिर्फ पैनी दृष्टि चाहिये।

देव के किसी प्रामाणिक चित्र के अभाव में हम उसकी आकृति और वेश-विन्यास आदि के विषय में कोई धारणा नहीं बना सकते। किंवदन्तियों तथा सुनी-सुनायी बातों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे स्वरूपवान् थे तथा उनकी वेश-भूषा एक सम्पन्न व्यक्ति की भाँति ही होती थी।

उनकी कृतियों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि कवि की प्रकृति शृंगारिक थी किन्तु वह ओछी अथवा थोथी न होकर गंभीर, संयत और व्यवस्थित थी। इसके प्रमाण स्वरूप देव के स्वकीया-प्रेम की प्रधानता को देखा जा सकता है। विशेषतः कवि के सन्दर्भ में देव का जो आदर्श था वह निम्नांकित सवैये में व्यक्त हुआ है :—

"जाके न काम न क्रोध विरोध न लोभ छुवै नहि छोभ को छाँहो।
मोह न जाहि रहै जग बाहिर मोल जवाहरता अति चाहो।।
बानी पुनीत ज्यों 'देव' धुनी, रस-आरद सारद के गुन गाहो।
सील ससो सविता छविता कविताहि रचै कविताहि सराहो।।"

भावुक अधिक होने के कारण वे व्यवहार कुशल नहीं हो पाये थे। आत्माभिमान उनमें स्थिति-संघर्ष से प्रखर होकर और भी जाग पड़ा था। वैसे वे अहंकारी नहीं थे। विनयभाव आपको उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र बिखरा मिल जायेगा :—

पैये असीस लचैये जो सीस, लची रहियै तबै ऊँची कहैये।

वे एक उत्कृष्ट भक्त भी थे।

प्रतिभा और बहुज्ञता की दृष्टि से देव प्रखर प्रतिभाशाली एवं अनेक विषयों तथा व्यावहारिक एवम् सैद्धान्तिक दोनों प्रकार के ज्ञान के पण्डित थे। सोलह वर्ष की अवस्था में

भावविलास जैसे पुष्ट ग्रंथ का निर्माण इसका प्रमाण है। वैसे कवि का अध्ययन गम्भीर और बड़ा व्यापक था। उसने काव्य, कोष, ज्योतिष, न्याय, व्याकरण, आयुर्वेद, दर्शन, सभी का अध्ययन किया था। उसका काव्य उसकी अध्ययन और अनुभूति का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

रचनाएँ

देव ने बहुत लिखा है। उनके कुल ग्रंथों की संख्या ५२ से लेकर ७२ तक बतायी जाती है। सर्वप्रथम 'शिव सिंह सरोज' नामक ग्रंथ में इनकी ७२ कृतियों को बताया गया है। तत्पश्चात् देव-साहित्य के एक अन्य मर्मज्ञ पं० बालदत्त जी मिश्र ने लिखा है कि—"एतद्देश ही में पच्चीस-तीस ग्रंथ इन महाशय के रचे हुये प्रस्तुत हैं और दृष्टिगोचर हुए हैं। देशान्तरों में भी इनके और और ग्रन्थ सुने जाते हैं।" इसके बाद आगे चलकर 'हिन्दी नवरत्न में कवि के ग्रंथों के सम्बन्ध में कहा गया कि "कोई कहता है, इन्होंने ७२ ग्रन्थ बनाये और कोई इन्हें ५२ ग्रन्थों का रचयिता बतलाता है। हम इतना अवश्य कहेंगे कि यदि इन्होंने ५२ ग्रन्थ बनाये हों तो कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि यह महाशय छन्द इधर-उधर उलट-पुलट कर रख कर नया ग्रन्थ तैयार कर देते थे।" किन्तु इन रचनाओं की संख्या का प्रामाणिक आधार क्या है, किन साधनों से उक्त महाशयों को इनका ज्ञान हुआ, यह किसी ने नहीं बतलाया। लेकिन करते सभी बात ५२ से ७२ की ही हैं, चाहे वह मिश्रबन्धु, पं० कृष्ण बिहारी मिश्र अथवा आचार्य शुक्ल ही क्यों न हों। लगता है इस ग्रन्थ-संख्या निर्धारण के पीछे जनश्रुति की एक लम्बी परम्परा चली आ रही थी।

परन्तु हमें प्राप्त रचनाओं के सम्बन्ध में जानकारी रखनी है। प्राप्त रचनाओं को हम दो वर्गों में रख सकते हैं।

१ प्रकाशित

२ हस्तलिखित अथवा अप्रकाशित

प्रकाशित रचनायें

१ भाव विलास

२ अष्टयाम

३ भवानी-विलास

४ रस विलास

५ प्रेमचन्द्रिका

६ राग-रत्नाकर

७ सुजान विनोद
८ जगद् दर्शन पचीसी
९ आत्म दर्शन पचीसी
१० तत्व दर्शन पचीसी
११ प्रेम पचीसी

(७–११) } वैराग्यशतक

१२ शब्द-रसायन
१३ सुख सागर-तरंग

सुन्दरी सिन्दूर भी एक प्रकाशित ग्रन्थ है किन्तु वह किसी स्वतंत्र रचना की श्रेणी में नहीं आता।

ख. हस्तलिखित कृतियाँ

१४ प्रेम तरंग
१५ कुशल-विलास
१६ जाति-विलास
१७ देव-चरित्र
१८ देवमाया प्रपंच (नाटक)
१९ श्रृंगार-विलासिनी
२० शिवाष्टक

उपर्युक्त रचनाओं के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। उक्त बीस रचनाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य रचनायें भी कवि कृत कही जाती हैं, जो निम्नांकित हैं :—

१ रसानंद लहरी
२ राधिका विलास
३ सुमित्र-बिनोद
४ प्रेमदीपिका
५ वृक्ष-विलास
६ पावस-विलास
७ नख-शिख-प्रेम-प्रदर्शन
८ नीतिशतक
९ वैद्यक ग्रन्थ

प्राप्त रचनाओं का संक्षिप्त परिचय

१ भाव-विलास

यह देव का प्रथम ग्रंथ है। यह ग्रंथ, जैसाकि कवि के आश्रयदाता आजमशाह के

सन्दर्भ में कहा गया है, श्रृंगार रस का साङ्गोपाङ्ग वर्णन प्रस्तुत करता है। यह एक रीति ग्रंथ है। संस्कृत काव्यशास्त्र के ह्रासोन्मुख युग में भानुदत्त की रस-तरङ्गिणी एक लोकप्रिय रचना थी। उसी को आधार मानकर कवि ने इसकी रचना की है। इस ग्रंथ में कवि की मौलिक उद्भावना का अभाव है। कवि का कवित्व इसमें ललित बन पड़ा है।

रसराज श्रृंगार का वर्णन ही उसके सर्वाङ्गों के साथ उसको काम्य है। इस ग्रंथ में पांच विलास हैं। प्रथम विलास में स्थायी भाव रति तथा द्वितीय में शरीर और आन्तर सञ्चारियों का विवेचन है। देव ने 'छल' नामक एक अन्य सञ्चारी को मानकर उनकी संख्या ३४ कर दी है और वितर्क सञ्चारी के विचार, विप्रतिपत्ति संशय और अध्यवसाय नामक चार भेद किये हैं। तीसरे विलास में रस-वर्णन है। देव ने रस की दो कोटियां की हैं।

१ लौकिक

२ अलौकिक

लौकिक में श्रृंगार आदि परम्परागत ९ रस हैं तथा अलौकिक के उन्होंने स्वाप्निक, मानोरथिक, तथा औपायनिक तीन भेद किये हैं। श्रृंगार के परम्परा प्राप्त दो ही भेद थे--संयोग और वियोग। किन्तु देव ने केशव के अनुकरण पर दो अन्य भेद भी किये—प्रच्छन्न और प्रकाश। चौथे विलास में नायक नायिकाओं तथा पांचवें में अलंकारों का विवेचन किया गया है।

यह ग्रंथ अपने वर्णन क्रमादि में भानुदत्त की रसतरंगिणी का पूर्ण अनुयायी है। सञ्चारियों और सात्विक भावों का 'आन्तर' और 'शारीर' नाम तथा वितर्क के चारों भेद, 'छल' संचारी, रस के लौकिक-अलौकिक आदि भेद-प्रभेद, सभी कुछ भानुदत्त के उक्त ग्रंथ से ही गृहीत हैं। कवि के लक्षण साफ और उदाहरण स्पष्ट हैं। यह ग्रंथ यद्यपि कवि का प्रथम प्रयास है जिसके कारण प्रौढ़ता स्वभावतः नहीं आ पाई है, तथापि काव्य के विचार से इसके छन्द सरस, मधुर और हृदयाकर्षक हैं, इसमें सन्देह नहीं।

२ अष्टयाम

लगता है कि भाव-विलास के पश्चात् ही इसकी रचना हुई होगी। कवि ने ग्रंथ की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में स्पष्ट ही कहा है—

"सुन्यो सराह्यो ग्रंथ यह अष्टजाम संजूत"

इसका वर्ण्य विषय नायक-नायिका के आठ पहर के विविध विलासों का व्यवस्थित वर्णन है। कवि ने लिखा भी है—

"दंपति नीके देव कवि बरनत विविध विलास।
आठ पहर चौंसठ घरी पूरन प्रेम-प्रकाश।"

देव को अष्टयाम के इस वर्णन की प्रेरणा उनके पूर्ववर्ती ऐसे वैष्णव कवियों से विरासत में मिली जिन्होंने राधाकृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं को आठ पहर अथवा ६४ घड़ी में विभक्त कर दिया था। कवि की इस रचना को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन वैभवशाली सामन्तों का जीवन विलासिता से कितना भरपूर था। अष्टयाम का यह वर्णन साहित्यशास्त्र की दृष्टि से संभोग शृंगार के अन्तर्गत भी माना जायेगा।

काव्य की दृष्टि से यह ग्रंथ उत्कृष्ट नहीं है।

३ भवानी-विलास

इस ग्रंथ में उसका रचना काल प्राप्त नहीं है और वहिर्साक्ष्य संबंधी उसका अन्य उल्लेख भी नहीं मिलता। यह रचना राजा सीताराम के पुत्र भवानीदत्त वैश्य को समर्पित की गयी थी। सीताराम का राज्यकाल सं० १७५० से १८०० तक था।

इस ग्रंथ में नायिका भेद का सविस्तार वर्णन किया गया है। डॉ० नगेन्द्र ने इस ग्रंथ का रचना काल सं० १७५० से १७५५ के बीच माना है। इस ग्रंथ का रस एवम् नायिका-भेद आदि का सारा विवेचन रसविलास या कुशल विलास की पद्धति पर हुआ है। ग्रंथ रसविवेचन से प्रारम्भ होता है किन्तु उसका वर्ण्यविषय नायिका भेद ही है। ग्रंथ में आठ विलास हैं। शृंगार रस का सांगोपांग वर्णन उक्त कृति में हुआ है। मुग्धा के भेदों, काम दशाओं तथा प्रौढ़ा, मध्या और हावों आदि के समस्त भेद प्राप्त होते हैं। आखिरी विलास में आठों रसों का वर्णन है। वीर रस के दानवीर, दयावीर और युद्धवीर, शान्तरस के शरण्य और शुद्धशान्त तथा शरण्य शान्त के प्रेम भक्ति, शुद्ध-भक्ति और शुद्धप्रेम तीन-भेद, तथा हास्य के उत्तम, मध्यम और अधम और करुण रस के अति करुण, लघुकरुण, महाकरुण और सुखकरुण ये पांच भेद किये गये हैं। आचार्य कवि ने रस सम्बन्धी अपनी मान्यता और सिद्धान्त का प्रथम विवेचन इसी ग्रंथ में किया है। स्पष्टत: उसने यह स्वीकार किया है कि नौ रसों में तीन रस मुख्य हैं-शृंगार, वीर, शान्त। शेष सभी रसयुग्म रूप में इन्हीं में विलीन हो जाते हैं। अन्त में चलकर सभी रस शृंगार में ही विलीन हो जाते हैं और वह सबका मूलाधार बनता है।

"भूलि कहत नव रस सुकवि सकल मूल सिंगार।
तेहि उछाह निर्वेद लै, वीर सान्त सिंगार॥"

ग्रंथ में भेद-प्रभेद का विस्तार होने से भाव-प्रवणता की उतनी रंगीनी नहीं है। भावाभिव्यक्ति शिथिल है, किन्तु कवि का कवित्व अपेक्षाकृत गंभीर हो गया है।

४ शिवाष्टक

यह कवि की प्रारंभिक रचना है। रचना के अन्त में कवि ने इसका रचना काल सं० १७५५ दिया है। कतिपय विद्वान् इसे देव कृत होने में शंका उपस्थित करते हैं। इस रचना में कुल ८ छंद हैं जो शंकर की स्तुति में लिखे गये हैं। प्रारंभिक कृति होने के कारण सहज भावनामयता बहुत कम और शब्दों की तड़क-भड़क बहुत है। कविवर रत्नाकर ने इसे सन् १९२८ की माधुरी में व्याख्यापूर्ण आलोचना के सहित प्रकाशित करवाया था।

५ प्रेम-तरंग

यह ग्रंथ किसी को समर्पित नहीं किया गया है। डॉ० नगेन्द्र ने इसका रचनाकाल अनुमान से सं० १७६० के लगभग माना है। कवि के अन्य ग्रंथ कुशल-विलास और प्रेम-तरंग में इतना अधिक साम्य है कि एक को देखकर दूसरे का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इस पुस्तक में नायिका के स्वकीयत्व की पूर्ण प्रतिष्ठा की गयी है। उदाहरण मौलिक और नवीन हैं। कवित्व भी इसका प्रथम श्रेणी का नहीं है।

६ कुशल-विलास

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कुशल-विलास नामक कृति प्रेम-तरंग का संशोधित और किंचित् परिवर्धित संस्करण है। इसकी रचना राजा कुशल सिंह के लिये हुई थी। यह प्रेम-तरंग के बाद की रचना है। इसका रचनाकाल संवत् १७६० के कुछ पश्चात् माना जा सकता है।[1]

इस रचना का मुख्य वर्ण्य विषय नायिका भेद है। ग्रंथ नौ विलासों में विभक्त है। कुल मिलाकर इसमें ३०६ छन्द हैं जिनमें दोहा, सवैया तथा कवित्त सम्मिलित हैं। यह ग्रन्थ अभी प्रकाशित नहीं हुआ है। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ ही यत्र-तत्र उपलब्ध हैं।

७ जाति विलास

इस ग्रन्थ का परिचय देते हुए कवि ने स्वयं रसविलास नामक ग्रंथ में लिखा है :—

> "देवल रावल राजपुर नागरि तरुनि निवास।
> तिनके लच्छन भेद सब बरनत जाति विलास।"

आगे चलकर कवि ने इसी ग्रंथ को संशोधित और परिवर्धित करके इसका एक अन्य नामकरण रसविलास कर दिया है। अनुमान से इसका रचनाकाल सं० १७८० के लगभग माना जा सकता है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि देव ने इस ग्रन्थ की रचना देशव्यापी देशाटन करके लिखा है। विभिन्न जाति अथवा वर्ण की नायिकाओं का ही वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है।

---

१. देव और उनकी कविता—डॉ० नगेन्द्र, पृ० ४७

८ रसविलास

कवि ने स्वयं इस ग्रंथ का रचनाकाल - संवत् १७८३ वि० दिया है। यह रचना भोगीलाल के प्रत्यिथ की गयी थी। इस ग्रन्थ के कवित्त-सवैये अधिकांशतः भवानी विलास और जाति विलास से लिये गये हैं।

अपने नामानुकूल ही यह रस का ग्रंथ है। सारी पुस्तक में नायिका भेद का ही वर्णन किया गया है। इसमें कवि ने अपने शृंगार-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इसमें काम और रमणी को प्रधानता दी गयी है। ग्रंथ सात विलासों में विभक्त है। कवि ने इस ग्रंथ में नारी को अनेक स्थितियों में रखकर देखा है। यथा—सर्वप्रथम देव ने नारी को नागरी, पुरवासिनी, ग्रामीण, वनवासिनी, सैन्या, पथिक वधू छः भेद किये हैं। पुनः इनके अवान्तर भेद भी किये हैं। इसके पश्चात् रूपशील अष्टांगों की परिभाषा देने की सफल कोशिश की गयी है। तत्पश्चात् नायिका को जाति, कर्म, गुण और देश क्रमादि के आधार पर तथा अंत में काल, वय, प्रकृति और सत्व के अनुसार विभाजित किया गया है। वैद्यक के आधार पर तीन—वात, पित्त और कफ—और सत्व के आधार पर नौ—सुर, किन्नर, नर, पिशाच, नाग, खर, कपि और काग—प्रकार की कही गयी हैं। इसके अतिरिक्त वियोग की दस दशाओं के वर्णन में देव ने प्रचलित परिपाटी से थोड़े भिन्न मार्ग का अवलम्ब लिया है जिसका विस्तार पूर्वक वर्णन कवि के 'आचार्यत्व' के अन्तर्गत करेंगे। सम्भवतः इन्हीं सब स्वतन्त्र मान्यताओं को देखकर देव के प्रशंसक मिश्र बन्धुओं ने इसकी बड़ी बड़ाई की है। किन्तु रीति-विवेचन की दृष्टि से अपेक्षाकृत देव के अन्य ग्रन्थों से इसमें ऐसी कोई विशेष बात नहीं है कि जिसकी प्रशंसा करके चूर हुआ जाय। काव्य की दृष्टि से कवि की शैली इसमें आकर काफी पुष्ट और परिपक्व हो गयी है।

९ प्रेम चन्द्रिका

ग्रन्थ में कवि ने इसका रचनाकाल नहीं दिया है। डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है कि इस ग्रन्थ की रचना सुजान-विनोद से पूर्व और रस-विलास के पश्चात् हुई होगी और इसका रचनाकाल हम उद्योत सिंह के समय को देखते हुए संवत् १७९० के लगभग मान सकते हैं। प्रेमचन्द्रिका का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि यह रचना रस-विलास से कहीं अधिक पुष्ट और प्रौढ़ है। लगता है कि कवि की मनोवृत्ति धीरे धीरे स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर, बाह्य से आंतरिकता की ओर अभिमुख होती जा रही थी। कवि इस रचना तक आते-आते प्रेम और विषय में अन्तर करने लगता है।

यह रचना शुद्ध सात्विक प्रेम का वर्णन प्रस्तुत करती है जिसको पढ़कर यह लगता है कि कवि का दृष्टिकोण अन्य रीतिकालीन कवियों के निम्नस्तरीय शृंगारिक अनुभूतियों

से उठा हुआ बहुत कुछ पावन एवं पवित्र था। पुस्तक चार प्रकाशों में विभाजित है। प्रथम प्रकाश में प्रेम के स्वरूप, महात्म्य तथा प्रेम एवं विषय का अन्तर स्पष्ट किया गया है। दूसरे में प्रेम के पाँच प्रकार—सानुराग, सौहार्द्र, भक्ति, वात्सल्य, कार्पण्य— किये गये हैं। तीसरा प्रकाश मध्या और प्रौढ़ा के प्रेम-विवेचन में खपाया गया है। चौथे प्रकाश में प्रेम के अन्तिम चार भेदों को गोपियों के संदर्भ में लेकर वर्णित किया गया है।

यह रचना शुद्ध कविता की दृष्टि से बड़ी ही सरस एवं हृदयग्राही है। रीतिबन्धन से विमुक्त होकर बड़ी ही मानसिक तल्लीनता के साथ प्रेम और उसके महत्ता को कवि ने दिखाया है। इतना आवेग, इतनी तल्लीनता रीतिकाल में केवल घनानन्द को छोड़कर अप्राप्य है। यहाँ वास्तव में प्रेम का वर्णन न होकर प्रेम की अभिव्यक्ति है—ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि का सम्पूर्ण व्यक्तित्व पिघल कर बह उठा हो।"[१]

१० सुजान विनोद अथवा रसानन्द लहरी

यह भी प्रेम रस प्रधान रचना है। प्रेम का सामान्य वर्णन इसमें किया गया है जिसमें उद्धरण प्रेमचन्द्रिका से ही लिये गये हैं। इसका रचनाकाल सं० १७६५ के लगभग माना जा सकता है।

यह रचना किसी को समर्पित नहीं की गई—ऐसा मिश्र बन्धुओं का कहना है। किन्तु सुजान विनोद की जो प्रतियाँ कुसमरा के निवासी पं० मातादीन दुबे और गोकुलचन्द्र दीक्षित के पास सुरक्षित है उनमें शुरू के कतिपय छन्दों में आश्रयदाता का स्पष्ट ही वर्णन किया गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है इसकी रचना दिल्ली के वैभवशाली व्यक्ति पातीराम के पुत्र सुजान के प्रत्यर्थ हुई थी।

यह भी नायिका भेद का ग्रंथ है। इसमें नायिका भेद ऋतुओं के संदर्भों में किया गया है जैसे—शिशिर और बसन्त मुग्धा का काल है क्योंकि इस काल में श्रृंगार का जन्म होता है, ग्रीष्म और वर्षा मनोरंजन का काल है, इस कारण यह मध्या के लिए उपयुक्त है और इसी तरह शरद एवं हेमन्त विलास और क्रीड़ा के काल हैं अतः ये प्रौढ़ा के अनुकूल है। यह ग्रंय सात विलासों में विभक्त है और उनमें क्रम से उक्त विषयों का विवेचन किया गया है। वर्णनों के अधिकतर छन्द रसविलास, भवानी-विलास और प्रेम चन्द्रिका से लिये गये हैं। छठाँ और सातवाँ विलास केवल ऋतु वर्णन में ही खपाया गया है। ग्रंथ की कुल छन्द-संख्या ३२४ है।

काव्य की दृष्टि से सुजान विनोद प्रेम चन्द्रिका की भाँति ही सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ है। कवि का कवित्व बड़ा व्यापक, प्रगाढ़, पुष्टि एवं परिपक्व होकर एक अपूर्व रसार्द्रता और भावमयता की सृष्टि करता है।

---

१ देव और उनकी कविता—डॉ० नगेन्द्र, पृ० ५३।

११ राग-रत्नाकर

यह संगीत शास्त्र से सम्बन्धित ग्रंथ है। इसमें ६ रागों तथा रागिनियों और तेरह उपरागों का उल्लेख किया गया है। काव्य की दृष्टि से भी इन रागों का वर्णन रोचक और सरस है। इसके अवलोकन करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि कवि बहुज्ञ था। मिश्र बन्धुओं ने तो प्रसिद्ध संगीतज्ञ विन्दादीन से इसकी संगीत शास्त्रीय परीक्षा भी करवायी थी। उन्होंने इसे संगीतशास्त्र सम्मत बताया है।

१२ शब्द-रसायन

यह ग्रन्थ कवि को आचार्य कवि की श्रेणी में बैठाने वाला सबसे महत्वपूर्ण रीति-ग्रंथ है। यह काव्य-शास्त्र के सर्वांगों का विवेचन प्रस्तुत करता है; यथा काव्य-महिमा, काव्य-स्वरूप, पदार्थ-निर्णय, नौ रस, रीति (गुण) वृत्ति (चार) अलंकार और पिंगल। यह रचना उक्त सभी ग्रन्थों से पुष्ट, पौढ और गम्भीर है। नायिका भेद का विवेचन इसमें नहीं किया गया है। समर्पित भी किसी को नहीं किया गया है। इसका रचनाकाल सं०१८०० के लगभग माना जा सकता है। यह ग्रंथ साहित्य सम्मेलन से प्रकाशित है। शब्द रसायन में कुल ग्यारह प्रकाश हैं। विवेचनोपरांत कवि इस निष्कर्षपर पहुँचा है कि—

"अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षना लीन,
अधम व्यंजना रस-कुटिल, उलटी कहत नवीन।"

इसकी चर्चा विस्तार से कवि के आचार्यत्व के अन्तर्गत करेंगे। कवि ने इसका शब्द-रसायन नामकरण इसलिए किया कि यह शब्द और अर्थ दोनों के रसों का सार है—

"शब्दरसायन नाम यह, शब्द अर्थ रस सार।"

आचार्य कवि ने इस ग्रंथ में रीति-तथ्यों को बड़ी सफाई और गम्भीरता से विवेचित किया है, किन्तु इतना ध्यान देने पर भी अलंकार, रीति और शब्द शक्तियों का निरूपण बहुत स्पष्ट नहीं हो पाया है। वैसे कवि का रस और पिंगल विषयक ज्ञान बड़ा व्यापक और विस्तृत था। उसको अपने विषय का पूरा-पूरा ज्ञान था, इसे बड़ी सरलता से स्वीकार किया जा सकता है। यह ग्रंथ कभी रीति-शास्त्र अध्येताओं के लिये पाठ्य-पुस्तक का काम देता रहा है।

१३ देव-चरित्र

यह देव की वैराग्य-प्रधान रचना है। कुल मिलाकर इसमें १५० छन्द हैं जिसमें १० पुराने और शेष नवीन हैं। पूरा ग्रन्थ एक ही अध्याय में समाप्त हुआ है। इसमें प्रकाश आदि कोई विभाजन नहीं है। कवि के अब तक के ग्रन्थों में जो कृष्ण केवल रसिक नायक मात्र थे वे इस ग्रंथ में अलौकिक कर्मों के आधार बनते हैं। इससे लगता है कि कवि की

वृत्ति राग से विराग की ओर बढ़ चली थी। कवि ने स्वयं ही इसे स्वीकार किया है कि इसमें कृष्ण के सूक्ष्म गुणकर्मों का वर्णन किया गया है।

ग्रन्थ व्रज सौभाग्य एवं कृष्ण जन्म से प्रारम्भ होकर कृष्ण की लगभग समस्त लीलाओं का वर्णन कर समाप्त होता है—यथा, अघासुर एवं बकासुरादिबध, छठी तथा नामकरण, माखन-चोरी, चीर-हरण, गोवर्धन लीला, रास लीला और मथुरा प्रयाण तथा कंस बध आदि।

इस प्रकार यह रचना एक खण्ड काव्य की कोटि में आती है। हैं तो इसमें १५० छन्द ही, किन्तु इतने ही छन्दों में कवि ने कृष्ण की लगभग समस्त प्रमुख लीलाओं का वर्णन सन्तोषप्रद ढंग से किया है।

१४. देव-माया प्रपंच नाटक

यह संस्कृत नाटक प्रबोध-चन्द्रोदय की पद्धति पर लिखा गया पद्यबद्ध नाट्य-रूपक है। सम्पूर्ण ग्रंथ छः अंकों में विभाजित है जिसमें चलने वाली कथा संक्षेप में इस प्रकार है। माया और प्रकृति पुरातन की दो पत्नियाँ हैं। माया से मन और प्रकृति से बुद्धि की उत्पत्ति होती है। माया मन पर इतनी हावी हो जाती है कि वह बहिन, विमाता और पिता का विरोध करने लगती है। और यहाँ तक कि माया का स्वामी वह पुरुष पुरातन भी उसके पूर्ण वश में हो जाता है। इस बुद्धि और मन में द्वन्द्व होता है और दोनों अलग हो जाते हैं। फिर बुद्धि सत्संगति प्राप्त करती है। तत्पश्चात् धर्म और अधर्म में संघर्ष होने लगता है। तर्क के द्वारा मन मोह से विमुक्त हो बुद्धि का पुनः संसर्ग लाभ करता है। इधर अधर्म की हार होती है। आखिर में वह पुरुष पुरातन मायामुक्त हो जाता है और प्रकृति, मन और बुद्धि सभी का उससे संयोग होता है।

बहुत दिनों से यह ग्रंथ अनुपलब्ध था, किन्तु इसकी एक प्रति पं० कृष्णविहारी जी मिश्र के यहाँ मौजूद है। ग्रन्थ का अवलोकन करने पर यह ज्ञात होता है कि देवचरित्र में प्राप्त होने वाला कवि का वैराग्यभाव अब और प्रगाढ़ एवम् पुष्ट होता जा रहा था। इसकी शैली शुद्ध वर्णनात्मक होते हुए भी प्रतीकात्मक और सांकेतिक है।

'श्री मिश्रवन्धुओं ने देव-माया प्रपंच को अर्ध नाटक माना है, शायद उनका तात्पर्य यह है कि इसमें कार्य-व्यापार का अभाव है। परन्तु यह तो रूपक की अनिवार्य सीमा है। इसके अतिरिक्त उस का कथा-विकास ठीक ही है। घटनाएँ सहज क्रम से आगे बढ़ती हैं। वर्णनों में भी वास्तविकता, रोचकता और रस की कमी नहीं है। माया के वैभव का वर्णन बहुत सुन्दर है। × × × दृश्य' विधान भी काफी अच्छा है। × × भाषा में गति है और प्रसंगोचित चांचल्य भी है।'[१]

---

१ देव और उसकी कविता— डा० नगेन्द्र, पृ० ६५

१५. पच्चीसियाँ।

इनमें हम जगद्दर्शन पच्चीसी, आत्म-दर्शन-पच्चीसी, तत्व दर्शन-पच्चीसी और प्रेम-पच्चीसी की गणना करते हैं। प्रेम-पच्चीसी रस-विलास से पहले की रचना जान पड़ती है क्योंकि रसविलास में प्रेम-पच्चीसी का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। इसी उल्लेख से यह जान पड़ता है कि इसका वर्ण्य विषय वैराग्योपदेश है। इसके कतिपय छंद भवानीविलास नाटक रचना से लिये गये और कुछ उसी पद्धति पर स्वतन्त्र रचे गये हैं। शेष तीन पच्चीसियों की रचनायें स्वतन्त्र एवम् मौलिक हैं। इन सभी का वर्ण्य विषय संसार की असारता और उसमें निमग्न जीव की विगर्हण है। 'वास्तव में इनमें से अनेक छन्दों में तो जैसे उसकी आत्मा अपनी असहायावस्था पर फूट-फूट कर रो उठी है। × × कवि की अंतिम रचना ये पच्चीसियां ही प्रतीत होती हैं।'[1]

इन पच्चीसियों में कुल छन्दों की संख्या १०३ है जिन में ७५ नवीन शेष पुराने छन्द हैं। संसार की अनित्यता का जगद्दर्शन पच्चीसी में, जीव का भ्रम में पड़कर इधर-उधर भटकना तथा तज्जानित कष्ट का आत्म-दर्शन पच्चीसी में, ब्रह्म तत्व का कथन तत्व दर्शन पच्चीसी में और प्रेम का वर्णन प्रेम पच्चीसी में अलग-अलग किया गया है।

ये रचनाएँ अत्यन्त प्रौढ़ और कवि सच्ची आत्माभिव्यक्ति की प्रतीक हैं। काव्य और दर्शन का सुन्दर समन्वय भी इन रचनाओं में हमें देखने को मिलता है। कवि जहाँ आत्मग्लानि से गलने लगता है, वहाँ के वर्णन हमें भक्त कवियों की पूरी याद दिलाते हैं।

१६. सुखसागर-तरंग

यह एक संग्रह है जिसमें देव ने लगभग अपने पूर्ववर्ती सभी ग्रंथों से सारभूत रचनाओं को लेकर सुखसागर-तरंग नाम से एक उत्तम संकलन तैयार किया है। कवि ने स्वयं इसे 'संग्रह' कहा है—'सुख सागर तरंग संग्रह।' जैसा कि पहले जीवनी वाले अध्याय में हमने देखा है कि यह ग्रंथ पिहानीवाले अकबर अली खाँ को समर्पित किया गया है। ईस समय कवि की अवस्था ६४ अथवा ६५ की हो गयी थी, कुछ ही दिनों पश्चात् वह मर भी गया होगा। इतना वयोवृद्ध हो जाने पर सम्भवत: कवि में इतनी क्षमता न रही होगी कि वह कोई नवीन रचना किसी आश्रयदाता के लिए तैयार करे। इस कारण उसने यही सरल पाया, जैसा कि वह पहले से करता चला भी आ रहा था, कि सभी ग्रन्थों का सार संकलित करके एक नया ग्रन्थ तैयार कर दे। इस ग्रंथ में भवानी-विलास, अष्टयाम, कुशलविलास, रसविलास, सुजानविनोद और भाव-विलास तथा प्रेम-चन्द्रिका जैसे ग्रंथों के छन्द संगृहीत मिलते हैं। परन्तु फिर भी लगभग दो सौ ऐसे

---

१ देव और उसकी कविता—डा० नगेंद्र. पृ० ६६

छन्द बच रहते हैं जिनको देखकर उनके मौलिक रूप से रचे जाने का भ्रम होने लगता है। किन्तु वे इन रचनाओं से उद्धृत किये गये हैं। जिनका पता आज हमें नहीं लगता।[१] वैसे ईस रचना में ८५६ छन्द हैं।

ग्रंथ १२ अध्यायों में विभक्त है। अपने सांगोपांग रूप में श्रृंगार ही ईसका वर्ण्य विषय है। नायिका-भेद का वर्णन ईसमें बड़े विस्तार के साथ किया गया है। स्वयं कवि के द्वारा संकलित होने के कारण ईस ग्रंथ का महत्व और भी अधिक बढ़ गया है।

इसके अतिरिक्त सुखसागर-तरंग से यह ज्ञात होता है कि नखशिख, षटऋतु और राम-चरित्र और ग्रंथ अवश्य रहे होंगे। किंतु वे आज प्राप्य नहीं हैं। इसी प्रकार विद्वानों अथवा उल्लेखों से देव के उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त जो ग्रंथ सुने जाते हैं, उनके नाम हैं—जयविलास, वृक्ष विलास, पावस विलास, नीतिशतक, नल-दमयंती, रसानन्द-लहरी प्रेम-दीपिका, सुमित्र विनोद, राधिका-विलास और प्रेम-दर्शन।

काव्यालोचना

अ—भाव-पक्ष

किसी कवि की कविता की पूरी परख के लिए हम उसको दो विभागों में रखकर देखते हैं—भाव-पक्ष और कला पक्ष। वैसे ये 'गिरा अर्थ जल वीच' के समान भिन्नाभिन्न हैं ही किन्तु फिर भी हम अध्ययन की सुविधा के लिए ऐसा कर लेते हैं। भाव काव्य का प्राणतत्व अथवा आत्मा है जब कि कला उस का बाह्य प्रसाधित शरीर आदि। इससे भी स्पष्ट है कि भाव और कला का कितना अछूट और अटूट सम्बन्ध है क्योंकि प्राणतत्व को शरीर से अलग रखकर नहीं देखा जा सकता। महत्ता के अनुसार हम पहले कवि के भाव-पक्ष को ही लेते हैं। इस पक्ष के अंतर्गत कवि की श्रृंगार और शांत रस सम्बन्धी कविताओं की ही प्रमुखता है जिसे हम दूसरे शब्दों में राग और विराग की कविता कह सकते हैं।

देव रीतिबद्ध काव्य-धारा के सर्वप्रमुख कवि हैं, ऐसा उनकी कविताओं को पढ़ने पर स्पष्ट ज्ञात होता है। देव मूलतः और मुख्यतः एक श्रृंगारी कवि हैं। कवि ने स्पष्ट शब्दों में श्रृंगार को अन्य रसों से श्रेष्ठ घोषित करते हुए। कहा है कवि लोग इसके नौ भेद ठहराने में भूल किया करते हैं, क्योंकि यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो जान पड़ेगा कि वास्तव में, श्रृंगार रस के ही उत्साह एवं निर्वेद से वीर तथा शांत जैसे रसों की भी उत्पत्ति हुआ करती है। श्रृंगार रस सभी रसों का मूल है और भाव सहित श्रृंगार में नवों रसों की झलक स्वभावतः दीख पड़ती है।' साथ ही यह भी कहा है कि शुद्ध श्रृंगार रस

---

१ देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र पृ० ६८

अनंत आकाश के समान अत्यंत ही व्यापक है जिसमें अन्य रस-रूप पक्षी सदा उड़ान भरते रहने पर भी उसका पार नहीं पाते।

"भूलि कहत नवरस सुकवि, सकल मूल सिंगार।
तेहि उछाह निरवेद लै, वीर सान्त संचार॥
भाव सहित सिंगार में, नवरस झलक अजत्न।
ज्यौं कंकन मनि कनक को, ताही में नवरत्न॥
निर्मल स्याम सिंगार हरि, देव अकास अनन्त।
उड़ि-उड़ि खग ज्यौं और रस, विवस न पावत अन्त॥"
(भवानी विलास)

यों तो हिन्दी के अन्य कवियों और आचार्यों ने शृंगार रस को रसों में सर्वोपरि स्थान देकर उसका रस राजत्व सिद्ध किया है, नवों रसों में तीन रसों—शृंगार, वीर और शान्त—को मुख्य ठहराया है किन्तु देव ने ऐसा कह कर—कि उसी (शृंगार) के उत्साह से वीर और उसी के निर्वेद से शान्त रस की उत्पत्ति होती है—अपने मत का कारण भी स्पष्ट कर दिया है।

प्रेम-निरूपण—प्रेम एक अत्यंत व्यापक एवं गहन विषय है। वह अपने सांगोपांग रूप में बहुत कम कवियों द्वारा निरूपित किया गया है। भक्ति और प्रेम को नारद आदि आचार्यों ने अनन्य माना है। आध्यात्मिकता के सम्पर्क में आकर प्रेम साधना-प्रधान हो गया, किन्तु लौकिक प्रेम का ऐसे प्रेम से कोई मेल-मिलाप नहीं होता। साहित्य शास्त्र के ग्रन्थों में प्रेम का जो वर्णन किया गया है, उसका स्वरूप बहुत कुछ सामाजिक ही है। देव के पूर्व रसखान ने प्रेम का वर्णन किया था, जिसमें महत्व-ज्ञापन को ही प्रधानता थी। साथ ही मोटे तौर पर प्रेम के निःस्वार्थ और स्वार्थपरक दो भेद भी किये गये थे।

देव की प्रेम सम्बन्धी धारणा बड़ी उच्च, व्यापक और पावन है। वे 'काम' का बड़ा व्यापक अर्थ लेते हैं। उनका 'काम' समस्त विश्व में व्याप्त है—

"युक्ति सराही मुक्ति हित, भुक्ति भुक्ति को धाम।
युक्ति मुक्ति औ भुक्ति को, मूल सुकहिये काम॥
बिना काम पूरन भये, लगै परम पद छुद्र।
रमनी, राका, ससिमुखो, पूरै काम समुद्र॥
तातैं त्रिभुवन सुर-असुर, नर-पसु-कीट-पतंग।
राक्षस-जक्ष, पिसाच-अहि, सुखी सबै तिय संग॥"

अर्थात् युक्तियां और साधनायें मुक्ति के लिए होती हैं और उस मुक्ति का सुफल है भोग। किन्तु साधना, मुक्ति और भोग इन तीनों का मूल काम है इसके बिना उनकी स्थिति नहीं। यहां तक कि परमपद भी काम की

परिपूर्ति के अभाव में क्षुद्र लगता है। भाव यह कि यह आवश्यक नहीं कि परमपद की प्राप्ति से काम की परिपूर्ति हो जाय। वैसे काम-समुद्र चन्द्रमुखी रमणी को समक्ष पा आपूरित होता है। इसी कारण समस्त त्रिभुवन में सुरासुर से लेकर नर, पशु और कीट-पतंग आदि तक उसे चाहते हैं।

वास्तव में देव-द्वारा निर्दिष्ट इस प्रेम का स्वरूप शुद्ध और सात्विक है।

कवि ने 'काम' से शुद्ध प्रेम का और विकृत काम से 'विषय' का अर्थ लिया है। उसने प्रेम और कामुकता में स्पष्ट ही अन्तर माना है :—

"यह बिचार प्रेमीन को, बिषयी जन को नांहि।
बिषय बिकाने जनन को, प्रेमी-छुवत न छांहि॥
"विषयी जन व्याकुल विषय, देखैं विषु न पियूष।
सीठो मुह मीठो गिनै, जूठी ओठ मयूष॥"

शृंगार रस का मूलाधार शुद्ध काम है विकृत काम नहीं। प्रेम की स्थिति तभी तक होती है जब तक दंपति प्रेम होता है।

"तब ही लौं सिंगार रस, जब लौं दंपति प्रेम॥"

प्रेम की महत्ता को स्वीकार करते हुए कवि का कहना है कि बिना प्रेम के शृंगार रस नीरस और निःसार है; जब कि इसके विपरीत प्रेम, शृंगार के अभाव में भी समस्त रसों का सार होता है।

ऐसे ही बिन प्रेम रस नीरस रस सिंगार।
प्रेम बिना सिंगारहू, सकल रसायन सार॥

इस मान्यता का परिणाम यह हुआ कि कवि ने स्वकीया प्रेम को ही शुद्ध और सात्विक प्रेम माना है और इसके विपरीत परकीया प्रेम को उत्कट और तीव्र मानते हुए भी उसे अधिक औचित्यपूर्ण और श्रेयस्कर नहीं माना। कवि ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि परकीया उपपति के प्रेम में उलझ कर अपने व्यक्तित्व को औटाकर खोवे के समान कर तो देती है और ऐसा करने से उसके प्रेम में प्रत्यक्षत: एक विशिष्ट प्रकार का स्वाद तथा रस अवश्य आ जाता है किन्तु अन्ततोगत्वा वह अवगुणकारी ही होता है।

"पर रस चाहै परकिया, तजै आप गुन गोत।
आप औटि खोवा लिलै, खात दूध फल होत॥"

इसके विपरीत कवि ने स्वकीया के प्रेम को दूध की भाँति सात्विक और श्रेयस्कर बताया है। कवि के मतानुसार सामान्य (गणिका) का प्रेम विषय-तृप्ति का साधन मात्र है। उसकी यह मान्यता है कि प्रेम महामहिम है और उसका पान कर मानव अमरत्व को प्राप्त होता है। इस प्रेम को देव ने पाँच विभागों में बाँटा है—सानुराग, सौहार्द्र, भक्ति, वात्सल्य और कार्पण्य। परन्तु यह विभाजन बहुत स्पष्ट और संगत नहीं मालूम होता।

'बड़े के प्रति प्रेम को भक्ति, छोटे के प्रति वात्सल्य तथा सुहृदों और समवयस्कों के लिए सौहार्द्र जहाँ बतलाया है, वहाँ सानुराग का आधार शृंगार तथा कार्पण्य का शोक कहा है और इस प्रकार जहाँ एक ओर अवस्था भेद का प्राधान्य दीख पड़ता है वहाँ दूसरी ओर क्रमश: यौन संबंध और विकलता की दशा प्रमुख है। कवि ने इन अंतिम प्रेम दशाओं के के जो उदाहरण दिये हैं उनके अनुसार सानुराग का समावेश सौहार्द्र में तथा कार्पण्य का भक्ति में सरलतापूर्वक किया जा सकता था और इस प्रकार उक्त विभाजन सदोष विभेदीकरण (Cross division) से बच सकता था।'[1]

हाँ, कवि की उक्त प्रेम धारणा को देखते हुए यह कहने में कोई संकोच नहीं होता कि उसका दृष्टिकोण मूलत: रीतिकालीन शृंगारी कवियों से कुछ भिन्न था। वैसे आपको कवि की ऐसी अनेक कविताएँ मिलेंगी जिनमें प्रेम का छिछला और रीतिकालीन उथला रूप भी चित्रित किया गया है। वास्तव में यह उस युग के प्रभाव का परिणाम था। कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत रूप में कवि की आस्था प्रेम के एकनिष्ठ स्वरूप पर ही थी। संभवत: इसीलिए डॉ० नगेन्द्र जी का मत है कि "एक तरह से कहा जा सकता है, कि उन (देव) का प्रेम-विषयक दृष्टिकोण विहारी, मतिराम, पद्माकर आदि शुद्ध रीतिवादी कवियों और दूसरे घनानन्द, ठाकुर, बोधा आदि रीतिमुक्त एकनिष्ठ प्रेमी कवियों का मध्यवर्ती था। उनकी शिक्षा और संस्कृति की प्रेरणा एक दिशा में थी स्वभाव की दूसरी दिशा में। उनके संयोग-वियोग के वर्णनों में रीति और व्यक्ति का यही मिश्रण सर्वत्र मिलता है।"[2]

किन्तु डॉ० साहब द्वारा निकाले गये उक्त निष्कर्ष को जब हम देव की अधिकांश कविताओं पर घटाकर देखते हैं तो कवि अपने प्रेम अथवा शृंगा-धारण में उतना पावन पवित्र अथवा मध्यवर्ती नहीं दिखलाई पड़ता। इसके विपरीत वह भी अन्य सामान्य रीति कवियों की भाँति ही प्रेम का चित्रण करता हुआ दिखायी पड़ता है। मेरे विचार से इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि कवि की प्रेम-धारणा अपनी मान्यता में बहुत गंभीर, व्यापक और शुद्ध होते हुए भी वह उसके समस्त कृतित्व वा रचनाओं में उसी रूप में नहीं उतरी है; उसका रूप बहुत हद तक थोथा और हलका हो गया है—हो सकता है यह उस युग के वातावरण का प्रभाव हो अथवा कवि के सिद्धान्तत: कुछ और। और व्यावहारिक रूप से कुछ और होने का परिणाम हो।

इन सभी बातों को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि देव का यह प्रेम-विवेचन कोई महत्वपूर्ण मौलिक योगदान देता हुआ नहीं दिखायी पड़ता।

१ मध्यकालीन शृंगारिक प्रवृत्तियाँ तथा नवनिबंध: 'देव कवि का प्रेम निरूपण' —ले० आचार्य परशुराम चतुर्वेदी पृ० १०७—८।

२—देव और उनकी कविता—डॉ० नगेन्द्र। पृ० ६४।

संभोग शृंगार—प्रेमी और प्रेमिका संयोगी होकर जब रसभोग करते हैं तब उसे संभोग व संयोग शृंगार कहते हैं। इसमें दोनों प्रेमी एक दूसरे के रूप गुण आदि को देखकर आकर्षित होते हैं और फिर उस आकर्षण का अन्त मिलन में होता है। इस कारण शास्त्रीय दृष्टि से संयोग शृंगार के अंतर्गत ही रूप-वर्णन और मिलन अथवा विहार आदि का वर्णन किया जाता है। देव ने भी यही किया है। चूँकि शृंगार रस वर्णन में परम्परया नायिका ही आलम्बन होती थी इस कारण उसके ही रूप सौंदर्य का वर्णन अधिकांश किया गया है। यहाँ तक कि नायिका के रूप-वर्णन की नख-शिख नाम से एक परम्परा ही चल पड़ी जिसका वर्णन प्रायः सभी प्रकार के शृंगारी कवियों ने न्यूनाधिक मात्रा में किया है। इसके विपरीत भक्ति काल में भक्ति रस के आलंबन श्रीकृष्ण और राम थे इस कारण उनका रूप-वर्णन किया भक्त कवियों ने।

रूप अथवा सौंदर्य क्या है, इसका उत्तर देना सरल काम नहीं। किसी ने 'क्षण-क्षण में नवीन होने वाला'[1] कह कर उसकी ओर संकेत किया है तो किसी ने उसे शुद्ध भाव-दृष्टि का विषय मानते हुए 'औरै कछू'[3] कहा। एक बात यहाँ ध्यान रखनी चाहिए कि ये उक्त वाक्यांश सौंदर्य के लक्षण मात्र बताकर उसे स्पष्ट करना चाहते हैं, सौंदर्य क्या है सीधे इसकी परिभाषा देने का दुष्कर दायित्व नहीं सँभालना चाहते क्योंकि उस (रूप) की सर्वकालीन सर्वमान्य परिभाषा बताना कोई आसान चीज नहीं। इसी कारण उसे 'अनिर्वचनीय' भी कहा गया है। वास्तव में जैसा कि डॉ० नगेन्द्र जी ने स्पष्ट किया है रूप की वस्तुपरक, भावपरक और भोगपरक रूपानुभूतियाँ हो सकती हैं। जहाँ वस्तुपरक रूपानुभूति बहुत कुछ बाह्य होती है वहाँ भावपरक रूपानुभूति दृष्टा और दृश्य के बीच की आभ्यान्तरिक वस्तु होती है।

सारा रीतिकाल परंपरा व परिपाटी का काल था। इस कारण उसकी काव्य-शैलियों के रूप बहुत कुछ पहले से निश्चित होते थे। कतिपय असाधारण प्रतिभा-वाले कवियों को छोड़कर शेष सभी का काव्य परिपाटी बद्ध होने के कारण फीका एवं नीरस लगता है। रूप वर्णन के अन्तर्गत नखशिख, शोभाकान्ति आदि सभी कुछ बँधे-बँधाये मार्ग पर वर्णित किये जाते थे। देव के वर्णन भी बहुत कुछ इसी प्रकार व परिपाटी के हैं। किन्तु जहाँ कहीं और जब कभी कवि को ऐसे वर्णनों को वास्तविक अनुभूति होती है तब उनमें बड़ी पूर्णता एवं सजीवता आ जाती है। इसी कारण प्रतिभा सम्पन्न कवियों ने अपना कमाल दिखलाया ही है। देव भी ऐसे ही अप्रतिभ प्रतिभाशाली कवि थे।

हाँ, तो देव ने भी रूप को शुद्ध भावपरक दृष्टि से देखने का प्रयास किया है: —

१—क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयताम—कालिदास।
२—वह चितवनि और कछू जिहि बस होत सुजान—बिहारी।

"देखत ही मन जो हरे, सुख अँखियन को देइ।
रूप बखानै ताहि जो जग चेरी करि लेइ।"

अर्थात जो आंखों को सुख देता हुआ मनः प्रसादन करे वही रूप है।

अब क्रम से वस्तुपरक, भावपरक और उपभोगपरक के रूप के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

(१) वस्तुपरक रूप चित्रणः—

"अम्बर नील मिलाक बर्ग मुकुतालर दामिनि—सा दशहूं दिसि।
तामधि ग्रंथ में हीन गह्यो सु गयो गड़ि केशन की छवि सौं लसि॥
मांग को शूल उत सिर फूल दव्यो झमकै कनकावलि सौं घिसि।
संग सुमेरु मिलै रविचंद ज्यों पावस मास अमावस की निसि॥"

इस प्रकार के राशि-राशि वस्तुपरक रूप-चित्र देव की कविता में आपको मिलेंगे।

(२) भावपरक रूप चित्रणः—

संग संग डोलत सखीन के उमंग भरी,
अंग अंग उठत तरंग स्याम रंग की।

रूप चित्रण का तीसरी उपभोगपरक अनुभूति के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि उसके मूल में चूँकि उपभोग भावना की प्रधानता होती है इस कारण वह सहज ही वासनापूर्ण होती है। 'इसका सहचारी भाव हर्ष न होकर रति ही होती है; और चूँकि स्पष्टतः यह रति ऐन्द्रिय होती है इसलिए इसमें यौवन की उष्णगन्ध लिए एक तीव्रता और प्रगाढ़ता मिलती है। रीतिकाल के रूप-वर्णन मूलतः इसी सौंदर्यानुभूति से प्रेरित हैं।' देखिए निम्नोक्त छन्द में रूप के उपभोग की वासना कितनी प्रबल और तीव्र हो उठी है:—

"देव मैं सीस बसायो सनेह कै माल मृगम्मद बिंदु कै भाख्यो।
कंचुकी मैं चुपरो करि चौवा लगाइ लिये उर सों अभिलाख्यो॥
कै मखतूल गुने गहने रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यो।
साँवरे लाल को साँवरो रूप, मैं नैनन में कजरा करि राख्यों॥"

"अर्थात सांवरे लाल के सांवरे रूप को कंचुकी में चोवा रूप से चुपड़ना, वक्ष में भर लेना, शृंगार के रूप में आस्वादित करना, नयनों में अंजनरूप से आंज लेना सभी इन्द्रियों को जैसे शानदार दावत दी गयी।"[१]

अब शुद्ध संभोग की स्थिति के चित्र देखिये। प्रायः रीतिबद्ध और तथाकथित रीतिसिद्ध कवियों का संभोग-चित्रण बड़ा विलासी, नग्न, वासनामय और ऐन्द्रिय हो

१—देव और उनकी कविता—डॉ॰ नगेन्द्र पृ॰ ६४।

गया है। इसका कारण तत्कालीन वातावरण की सामन्ती विलासिता और पहले से चली आती हुई संस्कृत, प्राकृत आदि के श्रृंगार प्रधान साहित्यिक ग्रन्थों की परम्परा थी जिनसे हिन्दी को श्रृंगारिकता की विरासत मिली। संभोग श्रृंगार में दम्पति की राग पूर्ण चेष्टाएँ, सुरत, विहार आदि के वर्णन किये जाते हैं। यह रसिकता का युग था और इस रसिकता की परिपूर्ति संभोग में ही होती है। इस कारण इस युग की मूल प्रवृत्ति संयोग अथवा संभोग श्रृंगार थी। मिलन और उपभोग का चित्रण करते समय अधिकांश कवियों ने स्थूल अथवा शारीरिक सुख का ही वर्णन अधिक किया है। मानसिक सुख पर उतना ध्यान नहीं दिया है और यदि कभी दिया भी तो बहुत कम। देव में हमें शारीरिक (स्थूल) और मानसिक (सूक्ष्म) दोनों प्रकार के श्रृंगार के दर्शन होते हैं। यथा—

"गौने के चाल चली दुलही गुरु लोगन भूषन भेष बनाये।
सील सयाने सखीन सिखायो बड़े सुख सासुरे हू के सुनाये॥
बोलियो बोल सदा हँसि कोमल, जे मनभावन के मन भाये।
यों सुनि ओछे उरोजन पै अनुराग के अंकुर से उगि आये॥"

अर्थात् नायिका गौने जाने को तैयार है। उसके गुरुजन उसे वस्त्राभूषण देकर सुसज्जित करते हैं। सखियाँ उसे शील तथा सयानपने की शिक्षा देकर ससुराल के सुखों की बहुविध चर्चा करती हुई कहती हैं—"ऐसी हंसीयुक्त मधुरवाणी बोलना जो हमेशा ही मनभावन को प्यारी लगे। इतना सुनना था कि नायिका के हृदय का वह अनुराग जो अब तक मन में ही रहने के कारण अव्यक्त सा था ओछे उरोजों पर अंकुर के रूप में उग आने के कारण व्यक्त हो गया। ध्यान देने पर यह पता चलेगा कि अभी नायिका का मिलन वास्तविक रूप से सम्पन्न नहीं हुआ। बात अभी सोलह आने मानसिक धरातल की ही हो रही है। किन्तु पूर्वानुराग की मानसिक स्थिति सखियों की बातों से अधिक उद्दीप्त किये जाने पर शरीरायव (उरोज) में भी तरंगित हो उठती है।

कहीं कहीं तो मिलन के ऐसे चित्र देव ने अंकित किये हैं जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि ड़े ही पूर्ण स्वाभाविक एवं सहज लगते हैं। एक ऐसा ही चित्र नीचे दिया जा रहा है जिसमें नायिका नायक के रूप सौंदर्य का दर्शन कर बड़ी तन्मय और उद्विग्न हो उठी है—

"दूलह को देखत हिए में हूल फूल ह्वै,
बनावति दुकूल फूल फूलनि बसति है।
सुनत अनूप रूप नूतन निहारि तनु,
अतनु तुला में तनु तोलति सचति है॥

लाज - मय - मूल न उघारि भुज - मूलन,
अकेली व्है नवेला बाल केली मैं हँसति है।
पहिरनि हेरति उतारति धरति देव,
दोऊ कर कंचुकी उकासति-कसति हैं।"[1]

इस कवित्त की अन्तिम पंक्तियों को देखकर विहारी के निम्नलिखित दोहे की याद आ जाती है—

"छला छबीले लाल को नवल नेह लहि नारि।
चूमत चाहत लाय उर पहिरति धरति उतारि।"
—विहारी

देव की कविता में ऐसे अनेक चित्र मिलते हैं जिनमें संभोग शृंगार अपनी पूर्णता पर पहुँचा हुआ दिखायी पड़ता है। एक इसी प्रकार का उद्धरण दिया जा रहा है:—

"दूरि धरो दीपक झिलमिलात झीनो तेज,
सेज के समीप छहरान्यो तम तोम सो।
दूलहै दुराइ आली केलि के महल गई,
पेलि के पठाई बधू सरद के सोम सो।।
अंक भरि लीन्ही गहि अंचल को छोरु,
'देव' जोरु कै जनावै नवयौवन के जोम को।
लाल के अधर बाल अधरनि लागि लागि"
उठी मैन आगि पघिलान्यो मन मोम सो।।"

इस छन्द को देखने पर ज्ञात होता है कि मुग्धा नायिका जो समागम के लिए तैयार नहीं है सखियों की चाल में आकर नायक के भुजपाश में आवद्ध हो गयी। तत्पश्चात् यौवन जोम से पूरित उस नायिका और नायक के वीच रस्साकसी होती है। लेकिन अन्ततोगत्वा प्रवल नायक के अधरों से उसके अधर जुड़ ही जाते हैं। तत्परिणाम स्वरूप कामाग्नि प्रदीप्त हो उठती है और नायिका का ऐंचीला मन पिघलकर पानी हो जाता है। वेचारी नायिका को परवश होना ही पड़ता है। सरसता और मनोवैज्ञानिक दोनों ही दृष्टियों से यह वर्णन पूर्ण है। किन्तु कवि की वास्तविक रुझान ऐसे चित्र निर्माण की ओर थी—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कवि ने स्पष्ट ही कहा है:—

मुग्धादिक वयभेद अरु मान सुरत सुरतंत,
बरने मत साहित्य के उत्तम कहे न संत।
सुजान-विनोद

१—देव सुधा मिश्रबन्धु, पृ० १०२सं०

देव में ऐसे स्थूल और नग्न वर्णन मिलते अवश्य है किन्तु एक तो वे संख्या में सम्भवत: अधिक नहीं है और जो हैं भी उनको हमें तत्कालीन विलासी वातावरण का परिणाम समझना चाहिए। इसके विपरीत कवि की रुचि का वास्तविक क्षेत्र है भाव तरलता एवम् भाव समुल्लास का चित्रण जो वस्तुपरक (Objective) कम है और भाव परक (Subjective) अधिक। कवि के ऐसे चित्र भाव को तरंगित करते हुए से जान पड़ते हैं। निम्नलिखित भाव समुल्लास पूर्ण छन्द ऐसा ही है जिसमें संयोग प्रेम की अनन्यता का उत्कृष्ट वर्णन किया गया है :—

रीझि-रीझि, रहसि-रहसि, हँसि हंसि उठैं,
साँसैं भरि, आंसू भरि कहत दई दई;
चौंकि-चौंकि, चकि-चकि, उचकि-उचकि देव,
जकि-जकि, बकि-बकि, परत बई-बई।
दुहुन को रूप-गुन दोऊ बरनत फिरैं,
घर न थिरात रीति नेह की नई-नई;
मोहि-मोहि मोहनं को मन भयो राधामय,
राधा-मन मोहि-मोहि मोहन मई भई ॥
देव सुधा

हास-परिहास—संभोग की स्थिति में प्रेमियों के बीच जो पारस्परिक प्रेमालाप के रूप में हास-परिहास युक्त बातें होती हैं उनका सुखानुभूति के वर्णन में महत्वपूर्ण योग होता है। इस रूप में इसका उद्दीपक महत्व भी स्वीकार किया जा सकता है, जो स्थिति में और भी तारल्य और मार्मिकता ला देता है। किन्तु हास-परिहास के प्रसंग से सम्बन्धित रीतिकालीन हिन्दी कविताओं में उत्कृष्ट कविताओं का अभाव सा लगता है। उक्त प्रसंग से सम्बन्धित जो भी कवितायें प्राप्त होती हैं उन्हें अधिकतर खंडिताओं के वर्णनों में देख सकते हैं। रीतिकाल की परिपाटीबद्ध छिछली और उथली रसिकता व्यंग-विनोद की सरसता से खाली है—इसकी अपेक्षा उसमें स्थूल और स्फीत भोग वर्णनों का ही प्राधान्य रहा।

इस प्रकार की कवितायें देव ने भी लिखी हैं किन्तु वे संख्या में अधिक नहीं हैं। एक उदाहरण लीजिए जिसमें कहा गया है कि नायक और नायिका रात के समय बैठे हुए हैं। नायिका की सखियाँ भी उसके साथ हैं। नायक का मन आज अधिक डगमगा रहा है। उसने बड़े प्यार से नायिका को पान दिया—वह नायक के इस पान प्रदान के भाव को ताड़ती हुई हँसी और भौहों को मरोड़ लिया। नायक ने तत्पश्चात उसकी बाँह पकड़ ली है—इस पर नायिका मुसकरा कर उसका निषेध करती हुई बोली—ये सखियाँ जो आयु में मुझसे वयस्क है—उनके बीच लाज को न तोड़ो। किन्तु

रंगीला नायक विवश होता चला जा रहा है। इस प्रकार नायक अपनी विवशता के अनुरोध से ज्यों-ज्यों नायिका की ओर लुब्ध दृष्टि से देखता है नायिका (उसकी विवशता का छेड़कर मजा लेने के लिए) सखियों की ओर देखती है।

"पान दियो हँसि प्यार सों प्यारी बहू लखि त्यों हँसि भौंह मरोरी।
बांह गही ललचाइ लला, मुख नाहीं कहो मुसुकाइ किसोरी।
तोरि न लाज जेठानी सखी-जन, 'देव' ढिठाई करै नहि थोरी।
लाल जितै चितवैं तिय त्यों त्यों चितौति सखीन की ओरी।"

संयोग अथवा संभोग श्रृंगार का एक अन्य अंग है विहार। इसका भी वर्णन देव ने किया है किन्तु ऐसे वर्णनों में "आनन्द के वातावरण उपस्थित करने की अद्भुत क्षमता है जो वास्तव में उनकी सबसे बड़ी सफलता है।[1] निम्नोक्त उदाहरण ऐसा ही है जिसमें नायक-नायिका के हिंडोले झूलने का उत्कृष्ट वर्णन किया गया है।

"सहर सहर सोंधो सीतल समीर डोलै,
घहर घहर घन घेरि कै घहरिया।
झहर झहर झुकि झीनी झरि लायो 'देव'
छहर छहर छोटी बूंदन छहरिया।
हहर हहर हँसि हँसि कै हिंडोरे चढ़ी,
घहर घहर तनु कोमल घहरिया।
फहर फ़हर होत पीतम को पीतपट,
लहर लहर होत प्यारी की लहरिया।"

विप्रलंभ श्रृंगार

रीति कवियों का विरह संबंधी दृष्टिकोण :—समस्त रीति काव्य का विवेचन करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने उसके विरह-वर्णन के सम्बन्ध में लिखा है—"रीतिकाव्य में गंभीर जीवन-दृष्टि का अभाव था। उसके श्रृंगार में प्रेम की एकनिष्ठता न होकर विलास और रसिकता का प्राधान्य था। अतएव स्वभावत: ही उसका विरह भी अगंभीर है। रीति काल के कवि सामान्यत: प्रवास-जन्य विरह-गांभीर्य का वर्णन करने में इतने सफल नहीं हुए हैं जितने कि खण्डिता के मान आदि के वर्णन में। कारण यह है कि उनकी सहज रसिक वृत्ति इस प्रकार के प्रसंगों के ही अधिक अनुकूल पड़ती थी। वैसे इस प्रकार की परिस्थितियों में भी तीव्रता की कमी नहीं है; परन्तु यह तीव्रता ईर्ष्या और अतृप्त कामोद्दीपन की तीव्रता है। यह भूखे शरीर की ही तीव्रता अधिक है। गंभीर वियोग-पीड़ा का प्रसंग जहाँ आता है, वहाँ रीति कालीन कवि अनुभूति के विफल हो जाने के कारण ऊहा, अतिशयोक्ति आदि परम्परा-मुक्त साधनों

१—देव और उनकी कविता—डॉ० नगेन्द्र पृ० १०३

के द्वारा ऐसे चित्र उपस्थित करता है जो मजाक बन जाते हैं। बिहारी के विरह ज्वाल वाले दोहे इसके अकाट्य प्रमाण है।''[१]

उक्त कथन के संबंध में यह ध्यान रखना चाहिए कि यह जितना रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों पर घटित होता है उतना रीतिमुक्त अथवा स्वच्छन्द मार्गी स्वानुभूति के कवि घनानन्द, ठाकुर, बोधा आदि पर नहीं क्योंकि 'उनको तो उनके कवित्त' ही बना रहे थे जबकि अन्य कवि कविता के लिए कविता कर रहे थे।[२] और स्वच्छन्द होने का दम भरने वाले ठाकुर ने तो परंपरावादियों को चुनौती भी दी थी। इन रीति मुक्तकार कवियों में स्वानुभूति से प्रेरित सहज और मार्मिक विरह-वर्णन देखने को मिलता है। जिसकी जब जैसी अनुभूति हुई तब तैसी कह गये।

वैसे अपनी रुचि और व्यक्तिगत संस्कार के आधार पर रीति बद्ध कवियों के विभिन्न वस्तुओं के वर्णनों में कई स्तर दिखायी पड़ते हैं। जहाँ तक विरह-वर्णन का संबंध है वहाँ तक यह कहा जा सकता है कि देव उसकी गंभीरता, मार्मिकता, एवम् तत्संबंधी सूक्ष्म अनुभूतियों से परिचित थे—केवल ऊहा अथवा अतिशयोक्ति उनके वर्णन के आधार नहीं रहे क्योंकि जैसा पहले दिखाया जा चुका है कि उनकी प्रेम-संबंधी धारणा काफी गंभीर थी। उदाहरण के लिए उसने प्रेम की कष्ट-कर स्थितियों की तुलना सोने की विभिन्न स्थितियों से की है।[४] अब देव के विरह-वर्णनों की कुछ बानगी लीजिए। कवि ने निम्नलिखित कवित्त में नायिका की विरह-जनित विकलता और उसके ताप का वर्णन बड़ी स्वाभाविक पद्धति पर किया है। जिससे उसकी गंभीर भावनामयता अधिक साफ दिखायी पड़ती है। साथ ही अनुभूति की तीव्रता भी व्यक्त होती है।

---

१ देव और उनकी कविता—पृ० १०३।

२ लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोंहि तो मेरे कवित्त बनावत—घनानन्द।

३ सीखि लीन्हों मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीखि लीन्हों जस औ प्रताप को कहानो है।
सीखि लीन्हों कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामनि,
सीखि लीन्हों मेरु औ कुबेर गिरि आनो है।
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याको नहिं भूल कहूँ बाँधियत बानो है।
ढेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कबित्त कीबो खेल करि जानो है।।"
ठाकुर।

४ छेम छिमा छिति प्रेम की हेम भरै तेहि साखि,
छियो, भियो, औंधो भरयो अंग संग अभिलाखि।

"बालम-विरह जिन जान्यो न जनम-भरि,
बरि-बरि उठै ज्यों-ज्यों बरसै बरफ राति;
बीजन डुलावत सखी-जन त्यों सीत हूँ मैं,
सौति के सराप, तन-तापन तरफराति।
'देव' कहै--साँसन ही अँसुवा सुखात, मुख
निकलै न बात, ऐसी सिसकी सरफराति;
लौटि-लौटि परत करौट खाट-पाटी लै-लै,
सूखे जल सफरी ज्यों सेज पै फरफराति॥"[1]

इस छन्द को ध्यान से पढ़ने पर आप देखेंगे कि विरह-ताप का वर्णन तो है अवश्य किन्तु ऊहा और अतिशयोक्ति का पल्ला उसने इतना नहीं पकड़ा है कि 'औंधाई सीसी सुलखि'[2] वाली अस्वाभाविक बात कह जाय; उसके कथन में बड़ी स्वाभाविकता और सहजता है। सम्भवतः यह वियोग-वेदना का प्रथम अनुभव है। वियुक्ता के ऊपर सपत्नी के शाप का असर है। ऊष्ण उच्छ्वासों के कारण आँसू सूख गये हैं, कण्ठ से कुछ कह नहीं पाती, सिसकी भरती है। चारपाई पर पड़ी नायिका इधर से उधर की पाटी पकड़ कर उसी प्रकार वेदना-व्याकुल हो करौटें बदलती है जिस प्रकार पानी के सूख जाने पर मछली व्याकुल हो फड़फड़ाती है। ऐसी दशा में जाड़े की रात में भी उसका शरीर जलने लगता है मानसिक संतप्तता के कारण; यहाँ तक कि समस्त शीतल उपचार व्यर्थ सिद्ध होते हैं। कला-कुशल कवि ने ऊहा को भी स्वाभाविक बना दिया है।

कविकृत एक अन्य छन्द लीजिए जिसमें वियोग-जनित करुण वेदना की पूरी सुरक्षा करते हुए नायिका के मरण तक का वर्णन बड़ी कलात्मकता के साथ प्रस्तुत किया गया है:—

"साँसन हीं सों समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि;
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि।
जीव रह्यो मिलिबेई कि आस, कि आसहु पास अकास रह्यो भरि;
जा दिन ते मुख फेरि, हरे हँसि, हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि।"

इस छन्द के भाव-सौंदर्य को अच्छी तरह से खोलते हुए देव-साहित्य-मर्मज्ञ पं० कृष्ण विहारी जी ने लिखा है कि मनुष्य-शरीर पंचतत्व (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश)—निर्मित है। देवजी कहते हैं--मुख घुमाकर, ईषत् हास्य-पूर्वक जिस दिन से हरि जू ने हृदय हर लिया है, उस दिन से सम्मिलन-मात्र की आशा से जीवन बना है (नहीं तो शरीर का ह्रास तो खूब ही हुआ है)। उसाँसे लेते-लेते वायु का विनाश हो चुका है,

१ देव और विहारी—पृ० २०० से उद्धृत।
२ विहारी

अविरल अश्रु-धारा-प्रवाह से जल भी नहीं रहा है; तेज भी अपने गुण-समेत विदा हो चुका है, शरीर की कृशता और हल्कापन देखकर जान पड़ता है कि पृथ्वी का अंश भी निकल गया, और शून्य आकाश चारों ओर भर रहा है, अर्थात् नायिका विरह-वश नितान्त कृशांगी हो गयी है अश्रु-प्रवाह और दीर्घोच्छ्वास अपनी चरमसीमा पर पहुँच गये हैं। अब उनका भी अभाव है। न नायिका सांसें लेती है, और न नेत्रों से आंसू ही बहते हैं। उसको अपने चारों ओर शून्य आकाश दिखलायी पड़ रहा है। यह सब होने पर भी प्राण-पखेरू केवल इसी आशा से अभी नहीं उड़े कि संभव है प्रियतम से प्रेम-मिलन हो जाय; नहीं तो निस्तेज हो चुकने पर भी जीवन शेष कैसे रहता ?''[1]

सभी रीतिबद्ध कवियों की कविता शास्त्रीयता को आधार बनाकर चली है। इस कारण उसमें काव्यशास्त्रीय मान्यताओं का निर्वाह भी हुआ है। विरह-वर्णन की दस दशाएँ मानी गयी हैं। इनका विस्तार से वर्णन हिन्दी की प्राचीन कविता में लगभग सभी बड़े कवियों—सूर, विद्यापति आदि—ने किया है। ये दशाएँ निम्नलिखित हैं :—

१ स्मृति या स्मरण।
२ गुण-कथन।
३ अभिलाषा।
४ मूर्च्छा।
५ व्याधि।
६ उद्वेग।
७ प्रलाप।
८ जड़ता।
९ उन्माद।
१० मरण।

विरह की ये दस विभिन्न दशाएँ उत्तरोत्तर घनी एवं प्रगाढ़ होती हुई वियोग वेदना के प्रभाव-क्रम द्योतक के रूप में रखी गयी हैं। किन्तु थोड़ा ध्यान देकर देखा जाय तो हम यह कह सकते हैं कि वास्तविक वियोग भी इन्हीं सरणियों में बँधकर चलता है—खासकर आधुनिक युग में जब कि मनोविज्ञान इतना जटिल हो गया है। रीतिबद्ध कवि होने के नाते देव ने भी इन पर ध्यान दिया है। जिनकी पूरी अभिव्यक्ति उनकी कविताओं में हुई है। इन सभी दशाओं के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करना तो स्थानाभाव के कारण संभव न हो सकेगा किन्तु उनसे सम्बन्धित कतिपय प्रख्यात और भावपूर्ण उदाहरण पेश किये जाते हैं।

---

१ देव और विहारी, पंचमावृति, पृ० १९८-९९।

चिन्ता

वियोगावस्था में चित्त शान्ति के उपाय या संयोग के विचार को चिन्ता कहते हैं ।[1] उदाहरण

"खोरि लौं खेलन आवतीये न, तौ आलिन के मत में परती क्यों ?
'देव' गोपालहिं देखतीये न, तौ या बिरहानल में बरती क्यों ?
बापुरी, मंजुल आंब की बालि सुमाल-सी ह्वै उर में अरती क्यों ?
कोमल कूकि कै क्वैलिया कूर करेजन की किरचैं करती क्यों ?"

स्मृति वा स्मरण

"वियोगावस्था में प्रिय-संयोग-जनित पूर्वानुभुक्त वस्तु के ज्ञान होने को स्मृति या स्मरण कहते हैं ।"[2] उदाहरण

घांघरो घनेरो, लांबी लटैं लटे लांक पर,
कांकरेजी सारी, खुली, अधखुली टौंड़ वह;
गोरी गजगोनी दिन-दूनी दुति होनी 'देव',
लागति सलोनी गुरु लोगन के लाड़ वह ।
चंचल चितौन चित चुभी चित चोरवारी;
मोरवारी वेसरि, सु-केसरि की आड़ वह;
गोरे-पोरे गोलनि की हँसि-हँसि बोलनि को;
कोमल कपोलनि की जी मैं गड़ी गाड़ वह ।

एक अन्य छन्द में कला-कुशल कवि ने स्तंभ और स्मरण को मिलाकर वियोगिनी बाला का बड़ा ही हृदयहारी चित्र खींचा है । वियोग वेदना के कारण नायिका समाधिस्थ योगिनी-सी बन गयी है । इस कारण उसे उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता । देखिए :—

"अंग डुलै न उतंग करै, उर ध्यान धरै, बिरहा-ज्वर बाधति;
नासिका-अग्र की ओर दिये अध-मुद्रित लोचन को रस माधति ।
आसन बाँधि उसास भरैं, अब राधिका 'देव' कहा अवराधति ?
भूलिगो भोग, कहैं लखि लोग-वियोग किधौं यह योगहिं साधति ।"

---

१ रस वाटिका, पृ० ८२ ।

२ रस वाटिका, पृ० ८२ ।

गुण-कथन

"वियोगावस्था में प्रिय के गुणानुवाद करने को गुण-कथन कहते हैं।"[1] देव ने गुण-कथन के भी कई प्रकार माने हैं। हर्ष गुण-कथन के रूप में कवि ने निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है।

"देव' मैं सीस बसायो सनेह कै भाल मृगम्मद-बिन्दु कै राख्यो;
कंचुकि मैं चुपर्‌यो करि चोवा, लगाय लियो उर सौं अभिलाख्यो।
लै मखतूल गुहे गहने, रस मूरतिवंत सिंगारु कै चाख्यौ;
सांवरे लाल को सांवरो रूप मैं नैनन को कजरा करि राख्यो।"

नायिका श्याम के श्यामवर्ण पर रीझ कर रह गयी। उसको वह रंग इतना भाया कि व्यवहार में श्यामवर्ण की ही वस्तुओं का प्रयोग करने लगी। कवि परिपाटी के अनुसार, स्नेह, मखतूल, मृगमद, चोवा और सिंगार रस की मूर्ति तथा काजल का रंग श्याम माना गया है। इस कारण नायिका श्याम (कृष्ण) के रंग से समता रखने वाली इन वस्तुओं का प्रयोग करती है। वह सिर में स्नेह इसलिए लगाती है कि वह श्याम वर्ण वाला है। इसी प्रकार उपर्युक्त अन्य वस्तुओं का व्यवहार भी ऐसा ही समझकर करती है। कृष्ण रूप के संबंध में उसकी धारणा है कि उनके सांवरे रूप को उसने अपने नेत्रों में काजल के रूप में धारण कर लिया है। भाव गरिमा और प्रेम भावना से यह छन्द, कितना ओतप्रोत है वह कुल का कुल कहने में नहीं आ सकता।

उद्‌वेग

"वियोगावस्था में व्याकुल हो चित्त के निराश्रित होने को उद्‌वेग कहते हैं।"[2]

यथा :—

'भेष भये विष, भावै न भूषन, भूष न भोजन की कछु ईछो;
'देव जू' देखे करै बिधु सो मधु, दूधु, सुधा दधि, माखन छी-छो।
चंदन तो चितयो नहिं जात, चुभी चित माँहि चितौनि तिरीछी;
फूल ज्यों सूल, सिला-सम सेज, बिछौननि-बीच बिछी मनौ बीछी।"

उन्माद

"वियोगावस्था में अत्यंत संयोगोत्कंठित हो मोह-पूर्वक व्यथा करने को उन्माद कहते हैं।"[3]

---

१ रस वाटिका पृ० ८२।
२ रस वाटिका पृ० ८३।
३ रस वाटिका पृ० ८५।

यथा:—

"आक-बाक बकति, बिथा मैं बूड़ि-बूड़ि जाति,
पी की सुधि आए जी की सुधि खोय-खोय देति;
बड़ी-बडी बार लगि बड़ी-बड़ी आँखिन ते,
बड़े-ब्रड़े अँसुवा हिये समोय मोय देति।
कोह-भरी कुहकि, विमोह-भरी मोहि-मोहि,
छोह-भरी छितिहि करोय रोय-रोय देति;
बाल बिन बालम विकल बैठी बार-बार,
बपु मैं बिरह-विष-बीज बोय-बोय देति।"

व्याधि

"वियोग-दुख-जनित शारीरिक कृशता तथा अस्वास्थ्य को व्याधि कहते हैं।"[1]

यथा:—

"लाल बिना बिरहाकुल बाल बियोग की ज्वाल भई झुरि झूरी;
पानी सों, पौन सों प्रेम-कहानी सों, पान ज्यों प्रान न पोषत हूरी।
'देव' जू आज मिलाप की औधि, सो बीतत देखि बिसेषि बिसूरी;
हाथ उठायो उड़ायबो को, उड़ि काग गरे परी चारिक चूरी।"

वियोगानल से बिरहिणी झुलस गई है। वायु और जल के प्रेम-प्रयोग से, अवधि की आशा में, नायिका ने प्राणों की रक्षा की। अन्त में अवधि-दिन भी आ गया, पर सम्मिलन न हुआ। उस दिन का अवसान नायिका को विशेष दु:खद हुआ। आगम अनागम की शकुन (पक्षी) द्वारा परीक्षा करने के लिये सामने बैठे हुये काग को उड़ाने का उसने निश्चय किया। पर ज्यों ही उसने हाथ उठाकर काग की ओर हिलाया, त्यों ही उसके हाथ की चूड़ियाँ निकलकर काग के गले में जा पड़ी। विरह-वश नायिका इतनी कृशांगी हो गयी थी कि कंकाल मात्र शेष रह गया था। तभी तो हाथ की चूड़ियाँ ढीली हो गईं कि काग के गले में जा गिरीं।"[2]

जड़ता

"वियोग दु:ख से शरीर के चित्रवत् अचल हो जाने को जड़ता कहते हैं।"[3]

उदाहरण:—

"मंजुल मंजरी-पंजरी-सी व्है, मनोज के ओज सम्हारत चीरन;
भूँख न प्यास, न नींद परै, परी प्रेम-अजीरन के जुर जीरन।

---

१. रसवाटिका—पृ० ८५।
२. देव और बिहारी—पं० कृष्ण बिहारी मिश्र पंचमावृत्ति २०८—९।
३. रसवाटिका पृ० ८६।

'देव' घरी पल जाति धुरी अँसुवान के नीर, उसास समीरन;
आहन-जाति अहीर अहै, तुम्हैं कान्ह, कहाकहौं काहु की पीरन।"

इसी प्रकार शेष विरह-दशाओं के उत्कृष्ट उदाहरण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं किन्तु स्थल-संकोच वश ऐसा नहीं किया जा रहा है। बानगी रूप में सरस पाठक के लिए मेरी समझ से इतना काफी है।

उक्त विरह-अवस्थाओं के सम्बन्ध में यह एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इनमें व्यक्त भाव अन्य रीतिबद्ध कवियों की अपेक्षा अपनी भाव गरिमा एवम् सहजता और स्वाभाविकता में अधिक पूर्ण हैं। देव ही एक ऐसे कवि हैं जिनमें काव्य-कौशल और आचार्यत्व दोनों समान रूप में अपनी गारिमा के साथ मिलता है। वैसे मतिराम आदि अन्य कई कवियों में भाव माधुर्य का पलड़ा रीति-ज्ञान की अपेक्षा अधिक गम्भीर मालूम पड़ता है।

देव ने अन्य रीतिकालीन कवियों की भांति 'खण्डिता' के प्रसंग को लेकर उत्कृष्ट चित्रों का निर्माण किया है। निम्नोक्त छन्द में नायिका की विवशता और उसकी करुणा—विगलित स्थिति का मधुर, मार्मिक एवं बड़ा ही प्रभावोत्पादक चित्र खींचा है, जिसमें खण्डिता का व्यंग-चमत्कार भी कुछ कम नहीं है। देखिए :—

"'देव' जु पै चित चाहिए नाह तो नेह निबाहिए देह मर्‌यो परै;
त्यों समुझाइ सुझाइए राह अमारग जो पग धोखे धर्‌यो परै।
नीके मैं फीके व्है आँसू भरी कत, ऊँची उसास गरो क्यों भरयौ परै;
रावरो रूप पियो अँखियान भर्‌यो सुमर्‌यो उबर्‌यो सुढर्‌यो परै।"

इसके भाव-सौन्दर्य का उद्घाटन डॉ० नगेन्द्र ने निम्नलिखित शब्दों में बड़ी सुन्दर रीति से किया है—इस कारण देखिए :—

"नायक रात अन्यत्र बिताकर प्रातः नायिका के पास आया है। उसे अपने अपराध का ज्ञान है, आते ही नायिका को चिकनी चुपड़ी बातों से भुलाना चाहता है। नायिका भी गम्भीर होकर कहती है कि हमारा तो यह नियम है कि मरण के उपरान्त भी पति के प्रति प्रेम का निर्वाह करना चाहिए। अतएव मन में यदि कभी विरोधी भावना आती भी है तो उसे दूर कर दिया जाता है। नायक को थोड़ा सहारा मिलता है और वह पूछता है कि यदि ऐसा है तो फिर मुख की कान्ति फीकी क्यों है, आखों में आँसू क्यों भर रहे हैं, गला क्यों भरा हुआ है? इस पर नायिका समस्त पीड़ा को व्यंग में संकलित करती हुई उसी संयम और गम्भीरता के साथ, वाणी में किसी प्रकार का भी परिवर्तन न कर उत्तर देती है—'आज आपकी छबि में कुछ विशेष माधुर्य है, इतना अधिक कि इन आँखों में समाता

ही नहीं। ये आँसू नहीं हैं—तुम्हारी रूप माधुरी ही है जो आँखों में न समाकर बाहर बही जा रही है।'[1]

इसी प्रकार के खण्डितों से सम्बद्ध अनेक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनमें काव्य कौशल एवं व्यंग का सूक्ष्मत्व अपनी उत्कृष्टता को पहुँचा हुआ दिखायी पड़ता है। निश्चय ही कवि के ऐसे वर्णनों के आधार पर कहा जा सकता है कि खण्डिता के प्रसंग को लेकर उत्कृष्ट काव्य रचना करने वाला ऐसा अन्य कोई कलाकार नहीं हुआ।

विरह निवेदन की चर्चा करके अब श्रृंगार का प्रसंग समाप्त करेंगे। परकीया-प्रेम में प्रायः नायिका की दूतियाँ ही उसकी वियोग-विकलता का संदेश नायक तक पहुँचाया करती थीं। समाज के सामन्ती ढांचे में शायद यह अन्य साधनों से आसान भी रहा हो क्योंकि टेलीफोन तो तब था नहीं। और यह भी है कि वास्तविक जीवन में दूतियाँ चाहे प्रेम अथवा वियोग-संदेश उतना न वहन करती हों किन्तु काव्य में इनको लेकर विरह-निवेदन की एक खासी परम्परा चल पड़ी थी। देव भी एक दूती द्वारा नायिका का विरह-निवेदन नायक से करवाते हुए कहते हैं :—

'बरुनी-बघंबर मैं गूदरी पलक दोऊ,
कोए राते बसन भगोहें भेष रखियाँ;
बूड़ी जल ही मैं, दिन-जामिनि हूँ जागें, भौंहें
धूम सिर छायो बिरहानल बिलखियाँ।
अँसुवा फटिक-माल, लाल डोरी-सेल्ही पैन्हि,
भई हैं अकेली तजि चेली संग-सखियाँ;
दीजिए दरस 'देव' कीजिए संजोगिनी, ये
जोगिनि ह्वै बैठी हैं बियोगिनी की अँखियाँ।"

देव काव्य के पण्डित पं० कृष्ण बिहारी जी के शब्दों में इसका भावार्थ सुनिये:—

"बाघंबर, गुदड़ी, गेरुए वस्त्र, जल, धूम्र, अग्नि, स्फटिक-माला, सेल्ही (वस्त्र-विशेष) आदि सभी आवश्यक पदार्थों का आरोप क्रम से बरुनी (बीच में अन्तर होने से सफेद और काली जान पड़ती है— वाघंबर में भी काले धब्बे रहते हैं), पलक, नेत्रों के कोए (रुदन के कारण लाल हो रहे हैं), अश्रु-जल भौंहें विरह अश्रु और नेत्रों में पड़े हुए लाल डोरों पर किया गया है। अँखियाँ वियोगिनी योगिनी हैं। योग संयोग के लिए किया गया है। इसीलिये देव (इष्ट देव) के दर्शन देने की प्रार्थना है। विरहिणी दर्शन-संयोग में

---

१ देव और उनकी कविता--पृ०१०६।

ही अपना अहोभाग्य मानती है। रोने से नेत्रों की दशा कैसी हो गयी है इसको नायिका की सखी ने बड़े ही मर्मस्पर्शी शब्दों में प्रकट किया है।"[१]

कवि की काव्य-प्रतिभा का चरम निदर्शन और उसकी पुष्ट कला-कुशलता ऐसे ही उत्कृष्ट छन्दों में देखने को मिलती है।

यह छन्द देव के काव्य-कला कौशल का उत्कृष्ट उदाहरण विरह निवेदन का उत्कृष्ट नमूना है।'[१]

रीतिकाव्य के प्रसिद्ध पं० डॉ० नगेन्द्र ने देव के श्रृंगारी कविता के विषय में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले हैं :—

(१) देव की श्रृंगारिकता का धरातल छिछला और उथला न होकर बहुत गहरा था।

(२) उनकी श्रृंगारिक अभिव्यक्ति में आवेग और आवेश मिलता है जो अन्य रीति कालीन कवियों में सरलता से प्राप्य नहीं।

(३) आचार्यत्व (बुद्धि पक्ष) उसके भाव गांभीर्य में कहीं बाधक नहीं हुआ है।

(४) रचनाओं में श्रृंगार की गंभीर अनुभूतियों को प्रश्रय मिला है।

(५) रचनाएं एक विशेष प्रकार की तन्मयता और तल्लीनता से ओतप्रोत हैं जो भाव योग के अनुकूल ही हैं।

(६) किन्तु कवि के ये समस्त गुण सर्वत्र नहीं प्राप्त होते।

शान्त रस अथवा वैराग्य-प्रधान कविता

नव रसों में देव ने श्रृंगार और शान्त रस पर ही प्रधान रूप से लिखा है। जहाँ उनकी परम्परा और परिपाटी के अन्य हिन्दी-रीति कवियों ने केवल श्रृंगार को अपना मुख्य वर्ण्य विषय बनाया वहाँ देव ने श्रृंगार और शान्त दोनों को। किन्तु उसमें प्रधानता है श्रृंगार रस को ही। यह तो नहीं कहा जा सकता कि अन्य कवियों ने शान्त रस पर कुछ लिखा ही नहीं, परन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि जितना और जैसा उस पर देव ने लिखा है उतना और वैसा अन्य किसी ने नहीं।

प्रेरणा

जो कवि जीवन भर जीविका वृत्ति की खोज के फलस्वरूप विभिन्न आश्रय-दाताओं की रुचि पर मर-जीकर श्रृंगार परक रचनाएँ करता रहा हो वही अन्ततो-गत्वा वैराग्य-भावना से सम्बन्धित उत्तमोत्तम कविताओं की सृष्टि कर विषय-विमुक्ति की कामना करे यह एक अजीब बात लगती है। यह जिज्ञासा हमें प्रेरित करती है कि हम उस विशेष कवि के जीवन-दर्शन में प्रवेश कर ढूँढ़े कि कहाँ से प्रेरणा की यह लहर

१ देव और बिहारी—पृ० २११।

आयी जिसमें हमारा शृंगारी कवि शान्तरस की शान्त-तरल धारा में बह गया। वास्तव में कवि की भाव-परिवर्तन की दिशा को पकड़ने के लिए उस का व्यक्तिगत जीवन-दर्शन ही आधार भूमि का कार्य करता है—तत्कालीन वातावरण के वे मूल-स्रोत जिनसे हम कवि विशेष के काव्य की परख करते हैं, आनुषंगिक के रूप में सामने आते हैं। रीति-कालीन कविता के विषय में यह कहा जा सकता है कि तत्युगीन प्रवृत्तियों को लेकर हम उसकी नाप-तौल अधिक करते आ रहे हैं और व्यक्ति विशेष (कवि) के जीवन-दर्शन से प्राप्त तथ्यों के आधार पर बहुत कम। दूसरे शब्दों में, कवि-विशेष के मानसिक घात-प्रतिघात को लेकर मनोवैज्ञानिक समालोचन प्रायः नहीं लिखा जा रहा है। मेरी समझ में इसकी जरूरत चाहे और कहीं हो अथवा नहीं, किन्तु कवि की भाव-परिवर्तन की दिशा को जानने के लिए ऐसी समझ अनिवार्य है क्योंकि कवि द्वारा सृष्ट उसका सारा साहित्य उसके राग-द्वेष (भाव) की प्रक्रिया का परिणाम होता है। अभी इन्हीं नवीन दृष्टियों से हमें हिन्दी-रीति-साहित्य का अध्ययन करना है। हर्ष की बात है कि ऐसे अध्ययन की ओर हमारे गुरुओं ने दिशा निर्देशन किया है जिनमें डॉ० भगीरथ मिश्र और डॉ० नगेन्द्र के नाम बड़ी श्रद्धा से लिये जा सकते हैं।

कवि के साधारण जीवन-दर्शन पर दृष्टि डालने से यह ज्ञात होता है कि उसे जीवन-निर्वाह के लिए इधर-उधर आश्रयदाताओं की खोज में काफी भटकना पड़ा—सम्भवतः उसकी रुचि के अनुकूल कोई स्थायी आश्रयदाता उसे अन्त तक नहीं मिल पाया। दूसरी बात यह है कि कवि जीवन-भर शृंगार और विलास की ही कविता लिखता रहा—उसकी भी एक मानसिक (राग) प्रतिक्रिया हुई। ये सभी क्रिया-प्रतिक्रियायें उसे राग से विराग की ओर खींचे जा रही थीं—ऐसा उसकी वैराग्यमूलक कविताओं से स्पष्ट है। कवि ने कई बार मन, बुद्धि आदि को सम्बोधित कर उनके कुकृत्यों के लिए तीव्र शब्दों में उनकी भर्त्सना की है। मन को सारे विकारों की जड़ मानते हुए तथा उसे प्रताड़ित करते हुए गंभीर पश्चाताप प्रकट करता है:—

"ऐसे जो हौं जानतो कि जैहै तू विषै के संग,
ऐ रे मन मेरे हाथ पांव तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं कत—नर नाहन की नाहीं,
सुनि, नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो।
चलन न देतो 'देव' चंचल अचल करि,
चाबुक चितवननि मारि मुँह मोरतो।
भारी प्रेम-पाथर नगारो दे गरे ते बाँधि
राधाबर बिरद के बारिधि में बोरतो।

इस छंद से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि के रागाधिक्य का यह परिणाम था कि वह वैराग्य के शान्त-सागर में हिलोरें लेने लगा। 'नरनाहों की नांहीं' का सुनना, व्यक्तिगत रुचि का वैपरीत्य और श्रृंगारी अतिवादिता आदि तत्व उसे जीवन-भर मारते रहे— इनके थक (कम हो) जाने पर राग की राग मूलक प्रतिक्रिया हुई। राग से उठकर विराग तक जाने वाली प्रतिक्रिया पूरे श्रृंगार काल में व्याप्त दिखायी पड़ती है किन्तु जितनी गहराई वह देव में लिये हुए है उतनी और में नहीं। हिन्दी रीति परंपरा के अन्तिम आचार्य कवि लछिराम तक में यह प्रवृत्ति परिलक्षित की जा सकती है। देखिए:—

"साथ कौन तेरे हाथ मलि-मलि हरै,
अब तू अनाथ जरा जालिम जहर मैं।
लछिराम लंपट लबारन के द्वार-द्वार,
बिरद अपार गाये गौरव गहर मैं॥
मानै मतिमान आपने ही अनुमान मन,
तो सों को अजान अभिमान के सहर मैं।
राम रघुवीर को न जस बर गावै पर्यो,
सागर कहर महामोह की लहर मैं॥"

डॉ॰ नगेन्द्र ने इसे 'राग की क्लांति' (थकान) की संज्ञा दी है जो आलोच्य विषय को देखते हुए उचित ही है। डॉ॰ साहब ने इस प्रवृत्ति के पीछे दो कारणों का उल्लेख— किया है। १ वैयक्तिक कारण और २. सामाजिक कारण। देव की वैराग्य-भावना की प्रेरणाओं की ओर संकेत हुए उन्होंने लिखा है—"देव में जो राग की क्लांति मिलती है वह वैयक्तिक के साथ-साथ सामाजिक भी है। जातीय जीवन का वह आवेग जो वीरगाथा काल के भौतिक संघर्ष से उत्पन्न हुआ और भक्तिकाल के आध्यात्मिक संघर्ष से गंभीरतर हो गया था—मुगल राज्य की व्यवस्थित शांति के उपरांत रीतिकाल में आकर क्लांत हो चुका था। इसीलिए तो इस युग के सम्पूर्ण साहित्य में श्रृंगार की चहल-पहल के पीछे एक प्रकार की क्लांति का अवसाद भी मिलता है जो उस समय कभी भी उभर आया करता था। देव की व्यक्तिगत परिस्थिति भी कुछ ऐसी ही थी। स्वभाव से अत्यन्त रागी यह व्यक्ति विषय परिस्थितियों से आहत था। इतना तीव्र राग एक तो अतिशय उपभोग के कारण वैसे ही अपने प्रति विद्रोह कर उठा होगा, फिर परिस्थितियों ने भी उसे काफी झटके दिये। निसर्गतः वह क्लांति, पराजय, आत्म-भर्त्सना युक्त वैराग्य में परिणत हो गयी। राग की यह थकान देव की वैराग्य कविता में स्पष्ट है।"[1]

---

1 देव और उनकी कविता—पृष्ठ ११०-११।

रागात्मक प्रतिक्रिया

"हाय कहा कहौं चंचल या मन की गति में मति मेरी भुलानी।
हौं समुझाय कियो रस-भोग न देव तऊ तिसना बिनसानी॥
दाड़िम दाख रसाल-सिता मधु ऊख पिये औ पियूष से पानी।
मैं न तऊ तरुनी-तिय के अधारन के पीवे की प्यास बुझानी॥"

ध्यान से देखने पर इस विराग-भावना की तीन स्थितियाँ नजर आती हैं:—

(१) प्रारंभिक वैराग्य-स्थिति, जब वह अपने मन को उस पर काबू पाने के लिए फटकारता और प्रताड़ित करता है।

(२) जब वह उस पर पूरी तरह से काबू पा लेता है और तीसरा—

(३) जब वह अभीष्ट सिद्धि (भक्ति) प्राप्त कर लेता है।

इन तीनों स्तरों में से प्रथम का उदाहरण ऊपर दो छन्दों के आधार पर दिया जा चुका है। शेष द्वितीय और तृतीय स्थितियों का उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है। नीचे एक ऐसा छन्द पेश किया जा रहा है। जिसमें कवि ने अपने मन-मंदिर को ढहा दिया है अर्थात् मन उसके पूर्ण नियंत्रण में आ गया है—अब वह (मन) उसे कतई नहीं परेशान करता। उसे कृष्ण-भक्ति-रस प्राप्त हो गया है इसलिए मनोत्पन्न सारे राग दूर हो गये।

'देव' घनस्याम रस बरस्यो अखंड धार,
पूरन अपार प्रेम-पूरन सहि पर्यो,
बिषै-बन्धु बूड़े, मदमोह-सुत दबे देखि,
अहंकार-मीत मरि, मुरझि महि पर्यो।
आसा-तिसना-सी बहू-बेटी लै निकसि भाजी,
माया-मेहरी पै देहरी पै न रहि पर्यो।
गयो नहिं हेरो, लयो बन मैं बसेरो, नेह—
नदी के किनारे मन-मन्दिर ढहि पर्यो।"

अन्तिम अभीष्ट सिद्धि की अवस्था मुक्ति की अवस्था है जब आत्म, परमात्म से मिल अद्वैतावस्था को प्राप्त कर लेता है। यथा:—

"औचक अगाध सिंधु स्याही को उमँगि आयो,
तामैं तीनों लोक बूड़ि गए एक संग मैं,
कारे-कारे कागद लिखे ज्यौं कारे आखर,
सुन्यारे करि बाँचै, कौन नाचै चित भंग मैं।
आँखिन मैं तिमिर अमावस की रैनि अरु,

जंबुरस-बूंद जमुना-जल-तरंग मैं;
यों ही मन मेरो मेरे काम को न रह्यो 'देव',
स्याम-रंग ह्वै करि समान्यो स्याम-रंग मैं।"

कुशल कवि जहां मन का मानवीकरण (Personification) करके उसकी लानत मलामत करता है वहाँ काव्यात्मक सरसता निखर उठती है। दूसरी बात इस प्रकार के छन्दों में संवादात्मकता भी पायी जाती है। इस कारण भी काव्योपकार होता है। एक इसी प्रकार का अन्तिम उदाहरण देखिए:—

"तेरो कह्यो करि-करि, जीव रह्यो जरि-जरि,
हारि पाँय परि-परि, तऊ तैं न की संभार;
ललन बिलोकि 'देव' पल न लगाये तब,
यों कल न दीनी तैं छलन उछलन हार।
ऐसे निरमोही सों सनेह बाँधि हौं बँधायी,
आप बिधि बूड़यो माँझ बाधा-सिन्धु निराधार।
ऐ रे मन मेरे, तैं घनेरे दुख दीन्हें, अब,
एके वार दै कै, तोहि मूँदि मारौं एकै बार।

विचार-धारा

देव की विचारधारा एक रागात्मक प्रतिक्रिया का परिणाम होते हुए भी अपने में वह काफी गहरी और गंभीर है। उनकी वैराग्य शतक आदि कई रचनाओं को देखने पर ऐसा स्पष्ट विदित होता है। देव ने माया जीव, ब्रह्म आदि तत्वों के बारे में विचार किया है।

माया

यह विभिन्न आकर्षण-विकर्षणों से युक्त स्वर्णिम संसार सृष्टि-विधायिनी माया का ही परिणाम है। इसका भेदन कर जगद्दर्शन करना चाहिए। माया एक महान् शक्ति है उसके कर्तृत्व का क्या कहना:—

"जाही की सकति एक पुरुष पुराण दोऊ,
अस्विनी कुंवर तीन्यौ दानव दुवन पर।
चार्‌यौ जुग पांचौ भूत, छहो रितु,
सातौ सिन्धु, आठौ बसु नवोग्रह निग्रह उवन पर।
दसहूँ दिगीस ईस एकादस, दिनकर,
द्वादश, त्रयोदस समुद्र के सुवन पर।
मानत प्रमान 'देव' माया जू की आन आन,
आन चरचा न चलै चौदहो भुवन पर॥"

माया इतनी प्रबल शक्ति है कि एक पुराण पुरुष, दो अश्विनी कुमार, तीन दानव, चार युग, पांच भूत, छ ऋतु, सात समुद्र, आठ वसु, नौ ग्रह, दस दिशाएं एकादश रुद्र, बारह सूर्य, तेरह चन्द्रमा और चौदह भुवन—सभी उसके वशवर्ती हैं। भ्रम का निवारण हो जाने पर माया की वास्तविकता का पता लग जाता है अर्थात् प्रबुद्ध जीव जब माया की असत्यता अथवा अनस्तित्व को जान लेता है तब उसे यह ज्ञात होता है कि यह दृश्यमान जगत तत्वत: कितना नश्वर, क्षणिक और अनित्य है—सारे सुखोपभोग 'शक्ति' रूप, गुण, गौरव कितने क्षणस्थायी हैं। वह (प्रबुद्धजीव) पश्चाताप और ग्लानि से भर कर सोचने लगता है—

"देव अदेव बली बलहीन चले गये, मोह की हौंस हिलाने।
रूप कुरूप गुनी निगुनी जे जहाँ उपजे; ते तहाँ ही बिलाने।"

यह तो माया जनित मृत्यु का करिश्मा है कि उसके आगे देव, अदेव, बली, बलहीन' किसी की नहीं चलने पायी इतनी शक्तिमती है वह। भावुक कवि ने एक अन्य छंद में बारात का रूपक बांधकर सांसारिक नश्वरता को पेश किया है जो बड़ा ही हृदयावर्जक है :—

"काम पर्‌यो दुलही अरु दूलह, चाकर यार ते द्वार हि छूटे,
माया के बाजने बाजि गये, परभात ही भातखवा उठि बूटे;
आतसबाजी गई छिन में छुटि, देखि अजौं उठि कै अँखि फूटे,
देव दिखैयन दाग बने रहे, बाग बने ते बरोठेई लूटे।"

शनैः शनैः ज्ञान हो जाने पर यह ज्ञात हो जाता है कि संसार मिथ्या, अवसाद मूलक और कष्ट कारक है। अन्त में वह (व्यक्ति विशेष) सभी के मूल से आत्म-तत्व को पाता है अतएव वह कहने लगता है:—

काहु न मार्‌यो मार्‌यो सो फिर्‌यो,
पकरायो न काहू फिरयो पकर्‌यो सो।

अब आत्मतत्व की महत्ता से पूर्ण परिचित हो जाने पर उसने जाना कि मैं ही निखिल सृष्टि के आनन्द का आगार हूं—समस्त सत्ता एवं महत्ता इसी (आत्म-तत्व) में ही है। मेरे ही घर आठों सिद्धियाँ-नवो निधियाँ मुझमें ही आठो याम (सर्वदा) रहते हैं। मैं ही महाराजाओं का भी राजा (सम्राट) और तीनों लोकों के अधिकार मेरे अन्दर ही हैं—बाहर अन्य किसी में नहीं। यह है साधक की आत्मानुभूति से उत्पन्न रहस्य का परिणाम। ऐसी अनुभूति को प्राप्त कर साधक समस्त बाह्य क्रिया कलापों से कच्छपवत् मुंह मोड़ कर अपने अन्तर जगत में ही जीता—जागता है, उसे किसी बाह्य जगत् की अपेक्षा बिल्कुल नहीं रह जाती। निम्नोक्त छंद में कवि ने छः ऐसे हीं तत्व को लक्ष्य करते हुए लिखा है :—

"तेरो घेरो आठो याम रहै आठौ सिद्धि,
नवो निधि तेरे विधि लिखिए ललाट हैं।
'देव' सुखसाज महाराजन को राज तुही,
सुमति सु सो ये तेरी कीरति के भाट हैं।
तेरे अधीन अधिकार तीनो लोक को,
सुदीन भयो क्यों फिरै मलीन घाटबाट है।

ब्रह्म :—

इसे परम तत्व भी कहा गया है। देव ने कहा है कि यह वही तत्व है जो ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर आकाशवत् सर्वत्र व्याप्त है—

"अंतर जाके निरंतर ते उपजे बिनसे तिन मांहि समाई॥
बाहर भीतर सो अध ऊरध पूरि रह्यो सु अकास की नांई॥"

उस परम विराट सत्ता के लिए इस अपार वैभवशाली संसार की समस्त वस्तुएँ उसके लिए निवेदित हैं। आकाश ही उसका घर, पृथ्वी ही उसका पीढ़ा और वायु ही उसके ऊपर चंवर डुलाने वाला है। सप्त सिंधु की अनेक सरिताओं के जल से कवि उस (ब्रह्म) को स्नान कराता तथा पृथ्वी भर के समस्त फल-फूलों को लेकर उसकी आराधना करता है। और अनेक अग्नियों को जलाकर वह उसका धूप-दीप करता है। देखिए :—

"देव नभ-मंदिर में बैठार्‌यो पुहुमि-पीठ,
सिगरे सलिल अन्हवाय उमहत हौं।
सकल महीतल के मूल-फल-फूल-दल,
सहित सुगंधन चढ़ावन चहत हौं।
अगिनि अनंत, धूप-दीपक, अनन्त ज्योति,
जल-थल अन्न दै प्रसन्नता लहत हौं।
ढारत समीर चौंर, कामना न मेरे और,
आठौ जाम राम तुम्हें पूजत रहत हौं।

देव के दार्शनिक विचारों पर डॉ० नगेन्द्र जी ने वैष्णववादी प्रभावों के साथ शंकर के अद्वैत दर्शन का भी प्रभाव माना है।

यद्यपि ब्रह्म है मूलतः निर्गुण ही किन्तु माया ने उसे गुणों में बांध रखा है:—

'माया त्रिभुवन नाथ बाँधि नचायो गुननि त्यों।"

—देवमाया प्रपंच।

माया ब्रह्म-जात शक्ति है। यह उसको उसी प्रकार आवृत कर लेती है जैसे मकड़ी से ही उत्पन्न उसका जाला उसे घेरे रहता है :—

पै अपने गुण यों बँधै माया की उपजाय।
ज्यौं मकरी अपने गुननि उरझि उरझि मुरझाय।।

इस प्रकार इस छंद में कवि ने मकड़ी और उसके जाले के प्रसिद्ध अद्वैत-दर्शन संबंधी उपमान का प्रयोग किया है जिससे उसका अद्वैत वेदान्त से प्रभावित होना स्पष्ट है। किन्तु कवि की वन्दनाओं को देखने से स्पष्ट पता चलता है कि उसकी ब्रह्म-विषयक धारणा अद्वैत दर्शन के नितांत अनुकूल नहीं थी, उसमें वैष्णवों की सगुण–भावना का भी आग्रह के साथ सम्मिश्रण था। इस प्रकार कवि की समस्त दार्शनिक मान्यताओं पर इस दोहरे–दर्शन (सगुण–निर्गुण) का स्पष्ट प्रभाव दिखलायी पड़ता है। एक मंगलाचरण में कृष्ण को ब्रह्म कहा गया है :—

बेदनहू गने गुनगनै अनगने भेद,
भेद बिनु जाको गुन निरगुन हू यहै।
केतिक बिरंच्यो, महासुखन को संच्यो जहाँ,
बंच्यो ब्रजभूप सोई, परब्रह्म भूप है।

आत्मा :—

देव की आत्मा–संबंधी धारणा भी एक ओर शंकर अद्वैत दर्शन से प्रभावित है और दूसरी ओर वैष्णव आचार्यों से।

अद्वैतवादी धारणा :—

"हौं ही छर अच्छर सगुन निरगुन ब्रह्म,
मोही में सकल मेरे पीछे कछु औन है।।"

वैष्णववादी धारणा :—

"थिर न कुबेर इन्द्र, दौरैं देव रवि चंद,
बैठि रहे, बौरे, तू कहाँ लो बढ़ि जायेगो ?"

प्रेम:—

वास्तव में कवि के लिए तो यह 'हरि जस रस की रसिकता सकल रसायनि-सार' थी। उसने मर्यादा भक्ति के स्थान पर 'राग-भक्ति' प्रमुख व प्रधान माना। इसीलिए उसने ज्ञान और बुद्धि की नीरसता को इन्कार कर गंभीर प्रेम को स्थान दिया। एक शुद्ध भक्त की भाँति ही कवि ने प्रेम को ही अन्तिम सीढ़ी माना है। भगवान् के प्रेम में निमग्न हो जाने पर अमरत्व प्राप्त हो जाता है :—

"जाके मदमात्यो सो उमात्यो न कहूँ है कोई, जहाँ,
बूड़्यो उछर्‌यो न तर्‌यो सोभा-सिंधु सामुहै।

पीवत ही जाहि जोई मर्‌यो सो अमर भयो,
बौरान्यो जगत जान्यो मान्यो सुख-धामु है।"

प्रेम में आत्मविस्मरण होता है। वहां तो स्वानुभूति (Self Conciousness) के नाम पर कुछ होता ही नहीं। हम बस अपने प्रेमी को देखते हैं इसे छोड़कर जैसे और कुछ जानते ही न हों। देखिए प्रेमी-भक्त का हृदय किस प्रकार वर्णसाम्य धारण कर श्यामरंग में विलीन हो गया :—

"यों ही मन मेरो मेरे काम को न रह्यो माई,
स्याम रंग व्है करि समान्यो स्याम रंग मैं।"

कवि ने वैराग्य-भावना से सम्बद्ध तत्व-बोध, समत्व-बुद्धि, मोह-मुक्ति, सांसारिक नश्वरता आदि तत्वों को स्वीकार किया है :—

"तत्व-बोध सम सत्व मति, छूटे मोह ममत्व।
सान्ति बाढ़ि रस सान्त जँह, जानै जगत अतत्व।"

वाह्याडंबर की व्यर्थता :—

इसी संदर्भ में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि आलोच्य कवि को वाह्याचारों में बिल्कुल विश्वास नहीं था। इसके स्थान पर जैसा कि पहले देखा जा चुका है वह आन्तरिक प्रेम और विश्वास को ही प्रतिष्ठा देता है। इसीलिए उसने लिखा है :—

"कथा मैं न, कंथा मैं न, तीरथ के पंथा मैं न,
पोथी मैं न, पाथ मैं, न साथ की बसीति मैं।
जप मैं न, मुंडन न, तिलक-त्रिपुंडन न,
नदी-कूप-कुंडन, अन्हान दान-रीति मैं।
पीठ–मरु–मंडल न, कुंडल कमण्डल न,
माला–दण्ड मैं न, देव देहरे की भीति मैं।
आपुहि अपार पारावार प्रभु पूरि रह्यो,
पाइये प्रगट परमेसुर प्रतीति मैं।"

इसी प्रकार कवि व्यक्तिगत रूप से क्षमा, दया, शील, लज्जा, विनम्रता, करुणा और श्रद्धा आदि मानवीय तत्वों का समर्थक था।

निष्कर्ष :—

१ उसकी वैराग्य-भावना प्रेम-भक्ति मूलक थी।

२ उसकी दार्शनिक मान्यताओं में अद्वैतवादी निर्गुण और वैष्णववादी सगुण-भावना का सम्मिश्रण था।

३ राग की प्रतिक्रिया होती हुई भी उसकी वैराग्य-भावना का रूप गंभीर एवं चिन्तन-पूर्ण था।

४ उसकी आध्यात्मिकता मुख्यत: बौद्धिक ही थी जिसमें बुद्धि एवं राग दोनों ही तत्त्वों का मेल था। शुद्ध आध्यात्मिकता उसमें नहीं पायी जाती। तात्पर्य यह कि उसके विराग में राग (भाव) का अद्‌भुत और आकर्षक मेल था।

५ मानवीय-जीवन के आन्तरिक मूल्यों-क्षमा, करुणा आदि—पर उसकी आस्था थी।

६ वाह्याचारों का वह विरोधी था।

देव का काव्य-विवेचन (आचार्यत्व)

भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास बड़ा विशद् और व्यापक है। ईसा की दूसरी व तीसरी शतीपूर्व,—जहाँ तक ज्ञात है—भरत के नाट्यशास्त्र से लेकर १६वीं शताब्दी तक यह काव्यशास्त्रीय धारा अविच्छिन्न और अविराम रूप से प्रवाहित होती रही। जितना प्रगाढ़ और पुष्ट विवेचन काव्य के दशांगों का संस्कृत में किया गया है उतना अन्य किसी भी साहित्य में नहीं। संस्कृत की इस काव्यशास्त्रीय धारा के अन्तिम उद्‌भावक आचार्य पंडितराज जगन्नाथ थे। उन्हीं के समकालीन हिन्दी के सुकवि आचार्य चिन्तामणि और वे दोनों ही शाहजहाँ के दरबारी कवि थे। संस्कृत का यह काव्य-विवेचन जो अपने में इतना परिपूर्ण था हिन्दी को उत्तराधिकार के रूप में मिला। हिन्दी अथवा भाषा के कवियों ने भी किंचित् अन्तर से काव्य-विवेचन में संस्कृत वाली पद्धति को ही अपनाया। किन्तु कई कारणों से वे वैसा विवेचन नहीं कर सके। संस्कृत और हिन्दी के काव्य-विवेचन तथा उनके विवेचकों में कहाँ, कैसा और क्यों अन्तर रहा, इसे हम विस्तार से इसके पूर्व 'रीति काल का सामान्य-विवेचन' संज्ञक अध्याय के अन्तर्गत कर चुके हैं, अतएव हम यहाँ देव-कृत काव्य-विवेचन की ही समीक्षा प्रस्तुत करते हैं जिसका हमारे विषय से सीधा सम्बन्ध है।

देव ने काव्य के सर्वांगों—रस, नायिका-भेद, अलंकार, शब्दशक्ति, रीति (गुण) तथा पिंगल आदि—को अपनी आलोचना का विषय बनाया है। कवि की आलोचना-शक्ति की परख के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके द्वारा विवेचित उक्त काव्यांगों को किंचित् विस्तार से समीक्षा कर लें।

रस-विवेचन—

देव रसवादी आचार्य हैं। रस की परिभाषा देते हुए उन्होंने लिखा है—

"जो बिभाव अनुभाव अरु, बिभचारिनु करि होइ।
थिति की पूरन वासना, सुकवि कहत रस सोइ॥"

तात्पर्य यह कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों द्वारा स्थायी भाव की पूर्ण वासना को रस कहा जाता है। यहाँ 'वासना' शब्द से अर्थ लिया गया है स्मरण किये गये अनुभव से। देव ने रस-परिपाक के विषय में शब्द-रसायन में लिखा है—

"चित थापित थिर बीज विधि, होत अंकुरित भाव।
चित बदलित; दल फूल फलि, बरसत सुरस सुभाव।।
खेत पात्र, प्रारब्ध विधि, बीज सुअंकुर जोग।
सलिल नेह, भाव सुविटप, छन्द पत्न परिभोग।।"

—शब्द रसायन।

रस का आधार स्थल पात्र अथवा व्यक्ति का हृदयदेश है। संस्कार रूप से विद्यमान चित्त का स्थायीभाव ही बीज की भाँति है, जो स्नेह से फूलता-फलता हुआ रस में परिवर्तित हो जाता है। रस का यह विवेचन शास्त्र संमत है। दूसरी बात जो इस संदर्भ में ध्यान देने की है कि कवि ने प्रेम और प्रारब्ध को रसात्मकता के लिए आवश्यक माना है। कहना न होगा कि देव के द्वारा प्रयुक्त 'सनेह' शब्द का तात्पर्य उस राग-प्रधान हृदय से है जो प्रारब्ध का परिणाम होता है। लगभग सभी भारतीय काव्यशास्त्र–मनीषियों ने काव्य के आस्वादक को सहृदय माना है।

रस–स्वरूप के संबंध में किंचित् संकेत करते हुए देव ने लिखा है कि काव्यानंद अपने आनन्दमयरूप में ब्रह्मानन्द-सहोदर ही है। इस सम्बन्ध में कवि-कथन—

"हरि जस रस की रसिकता, सकल रसाइन सार।
जहाँ न करत कदर्थना, यह अनर्थ संसार।।"

अन्य रीतिकालीन कवियों की भाँति ही देव में भी रस की स्थिति के विषय में उपेक्षा दिखायी पड़ती है। देव ने साहित्यिक रस, प्रेमरस और हरिरस को एक ही माना है। एक वाक्य में यह कहा जा सकता है कि देवरस की स्थिति काव्य-पात्र के हृदय में मानते हैं।[1]

परम्परा-प्राप्त रस संख्या के अनुसार ही देव ने भी रसों की संख्या ९ मानी है।

"सो रस नव विधि विबुध कवि बरनत मत प्राचीन।'

—शब्द रसायन।

किन्तु, कवि ने बाद में यह दिखाया है कि; नाटक में आठ तथा काव्य में नो रस होते हैं। आद्याचार्य भरत ने नाटक में शान्त रस को छोड़कर आठ रसों की स्थापना की

१. भाव विलास

है। उसके बाद में होने वाले आचार्य उद्भट ने "नव नाट्ये रसाः स्मृताः कहकर नाटक में भी ६ रसों की स्थिति मानी है। काव्यप्रकाशकारमम्मट तथा पंडितराज जगन्नाथ को भी नाटक में ६ रसों की स्थिति मानने में कोई आपत्ति नहीं हुई थी।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि देव ने रस के दो भेद माने हैं—

१–लौकिक और २–अलौकिक। अलौकिक के तीन—भेद १–स्वाप्निक २—मानोरथिक और ३–औपनायिक--माने हैं। ये भेद भानुमिश्र की रस तरंगिणी नामक ग्रन्थ के आधार पर किये गये हैं। इसी प्रकार श्रृंगार रस के संयोग और वियोग संज्ञक भेद हुए। पुनः दोनों के दो-दो भेद और प्रच्छन्न और प्रकाश किए गए। प्रच्छन्न वह है जो रहस्यमय अथवा गुप्त होता है और प्रकाश वह है जो सर्वविदित है। प्रच्छन्न और प्रकाश नामक ये भेद महाकवि केशव ने देव से पूर्व ही कर डाला था। सामान्य और बहुप्रचलित वर्गीकरण के अनुसार वियोग के चार भेद ही किये जाते हैं।

१ पूर्वराग

२ मान

३ प्रवास

४ करुण

इन भेदों के वर्णन तो सामान्य ही हैं किन्तु अन्तिम भेद करुण वियोग का विवेचन थोड़ा लीक से हटकर करने की कोशिश की गई है यथा—

"दंपतीन में एक के विषम मूरछा होय।
जहँ अति आकुल दूसरो, करुणा कहत हैं सोय।" —भाव विलास
करुणातम श्रृंगार जहँ रति और शोक निदान। —शब्द रसायन

भाव यह कि दम्पति में जहां एक विरह से मूर्छित हो जाये, और दूसरा बहुत व्याकुल, वहां करुणात्मक वियोग की स्थिति होती है। ऐसी अवस्था में रति और शोक दोनों का मिश्रण रहता है। कवि ने करुण-वियोग के भी तीन भेद माने है।

१ लघु

२ मध्यम और

३ दीर्घ

संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों में बड़ा मतभेद रहा है कि करुण-विप्रलम्भ को श्रृंगार में माना जाये कि नहीं। किन्तु, परम्परया इसे माना ही गया है श्रृंगारान्तर्गत साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ महापात्र ने करुण विप्रलम्भ को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि नायक अथवा नायिका में से जब किसी एक की मृत्यु हो जाती है तब वह करुण विप्रलम्भ की स्थिति का द्योतक होता है।

किन्तु उसके विपरीत देव ने जैसा कि हमने ऊपर देखा मरण की स्थिति मूर्च्छा में मानकर उससे बचने की कोशिश की है।

हास्य रस के सामान्यत: छ: भेद माने जाते हैं —स्मित, हसित आदि। किन्तु देव ने यहाँ भी एक असामान्य रास्ते को पकड़कर उसके उत्तम, मध्यम और अधम तीन भेद कर डाले हैं और उनको स्पष्ट करते हुए कहा है।

"अधिक अधम, मधि मध्य जन, उत्तम हँसत विनीत।"

करुण रस को कवि ने पाँच विभागों में रखकर देखा है—करुण, अतिकरुण, महाकरुण, लघुकरुण और सुखकरुण। यह भेद करुणा की मात्रा के अनुपात के आधार पर किये गये हैं।

भयानक, रौद्र तथा अद्‌भुत रसों के केवल एक ही भेद किये गये हैं। वीभत्स में जुगुप्सा के दो भेद किए गये हैं—शारीरिक घृणा और ग्लानि। प्रथम भेद तो शास्त्र सम्मत है पर ग्लानि नहीं क्योंकि ग्लानि से उक्त रस में पारिपक्व नहीं आता।

वीर रस के परम्परा प्राप्त भेद—दानवीर, युद्धवीर, दयावीर और धर्मवीर हैं किन्तु उनमें से कवि ने तीन को ही अपनाया है और धर्मवीर को छोड़ दिया है। ऐसा इसलिए है कि उसके उपजीव्य ग्रंथ रसतरंगिणी की भी ऐसी ही मान्यता है।

"वीरस्तु युद्धवीर, कोपवीर दयावीर-भेदात् त्रिधा।"

—रसतरंगिणी

शान्त रस के भी दो भेद कवि ने माना है—

१ भक्तिमूलक शान्तरस

२ शुद्ध शान्तरस

पुन: भक्तिमूलक शान्तरस के तीन उपभेद माने गये हैं—प्रेम-भक्ति, शुद्ध-भक्ति, शुद्ध प्रेम। किन्तु इन भेद और उपभेदों से कवि की कोई विशिष्टता प्रकट नहीं होती। यह भेदोपभेद भवानी विलास नामक ग्रन्थ में किये गये हैं किन्तु शब्द रसायन में केवल वैराग्य मूलक शान्त को ही प्रधानता दी गयी है।

देव के अनुसार मुख्य रसों की संख्या चार है—शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स। शृंगार रस के अतिरिक्त शेष अन्य रसों की उत्पत्ति उक्त रसों से होती है। शृंगार से हास्य की, रौद्र से करुण की, वीर से अद्‌भुत की और वीभत्स से भयानक की।

"होत हास सिंगार ते, करुण रौद्र ते जान।
वीर जनित अदभुत कहो, वीभत्स से भयान॥"

—शब्द रसायन

परन्तु इसमें भी देव की कोई मौलिकता नहीं दिखाई देती क्योंकि वह भरत की

मान्यता का अनुवाद मात्र है। रस के सम्बन्ध में देव की दूसरी धारणा यह है कि काव्यगत नौ रसों में तीन मुख्य हैं—शृंगार, वीर और शान्त। बाकी ६ रस इनके आश्रित रहते हैं—हास्य और भय शृंगार के, करुण और रौद्र वीर के और अद्भुत एवं वीभत्स शान्त के। किन्तु करुण की सभी स्थितियों को रस के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता तथा शृंगार एवं भयानक आपस में विरोधी ही हैं किन्तु देव प्रीति और भीति को संगी मानते हैं; शायद इसीलिये ऐसा किया है—

"प्रीति भीति को संग है भय बिनु प्रीति न होय।"

—भवानी विलास

"काव्य के स्थायी भाव प्रायः सभी मौलिक वृत्तियाँ होने के कारण स्वतंत्र ही हैं। उनका एक दूसरे में पूर्ण अन्तर्भाव संभव नहीं।"[1]

अपने शब्द-रसायन नामक ग्रन्थ में कवि ने रस सम्बन्धी एक अन्य स्थापना की है—शृंगार में सभी रसों के अन्तर्भाव की। वह इस प्रकार कि शृंगार के संयोग और वियोग नामक दो भेदों में से संयोग, हास्य, वीर तथा अद्भुत का अन्तर्भाव कर लेता है और वियोग रौद्र, करुण तथा भयानक का। वीभत्स-शान्त भी दोनों में खप जाते हैं।

"सो संयोग वियोग भेद, शृंगार दुबिध कहु।
हास्य, वीर, अद्भुत संयोग के, संग अंग लहु,
अरु करुणा; रौद्र भयान भये तीन वियोग अंग
रस वीभत्स अरु सांत होत; दोऊ दूहून संग
यह सूक्ष्म रीति जानत रसिक जिनके अनुभव सब रसनि
नवहू सुभाव भावनि सहित, रहत मध्य सिंगार तनि।"

—शब्द रसायन

इसके औचित्य को खोजते हुये डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि "क्योंकि संयोग मधुर है, इसलिए हास्य, उत्साह और विस्मय मधुर या सुखात्मक भाव होने के कारण संयोग के अन्तर्गत मान लिये गये हैं; और वियोग कटु है; इसीलिये क्रोध, शोक, और भय कटु और दुखात्मक होने के कारण वियोग के अन्तर्गत रख दिये गये हैं; किन्तु एक दृष्टि से यह भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शान्त को मधुर और कटु दोनों का समन्वित् रूप होने से संयोग और वियोग दोनों के साथ लिया जा सकता है; परन्तु वीभत्स तो एकान्त कटु अनुभव है अतः उसको उभय रूप कैसे माना जा सकता है? इस नाते यह वर्गीकरण मूलतः

---

१ देव और उनकी कविता– डा० नगेन्द्र पृ० १३७

शृंगाद्धि भवेद्धासो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चेवाद्भुतोत्पत्तिर्वीभत्साच्च भयानकः॥"

असंगत है। और यदि कोई आधार हो भी तो उसका निर्वाह भली-भाँति नहीं हो पाया।" इस प्रकार की स्थापना पूर्ववर्ती संस्कृताचार्य भोजराज और हिन्दी आचार्य केशव, चिन्तामणि, मतिराम आदि कर चुके थे। यद्यपि श्रृंगार जीवन की प्रधान और प्रमुख प्रवृत्ति है और साहित्य में उसका वर्णन अपेक्षाकृत अन्य वृत्तियों के अधिक हुआ है तथापि साहित्यगत सभी वृत्तियों का अन्तर्भाव श्रृंगारी वृत्ति में मान लेना बहुत संगत और औचित्यपूर्ण नहीं जान पड़ता। जहाँ तक इस वृत्ति की प्रधानता की बात है वहाँ तक हम इसे स्वीकार करते हैं किन्तु न्यायपूर्ण न होने के कारण हम इसका एकाधिपत्य नहीं मान सकते। यदि हम ऐसा मान भी लें तो क्या आप सोचते हैं कि श्रृंगार के विरोधीरस करुण, भयानक, वीभत्स रौद्र आदि को खींचतान करके उसमें (श्रृंगार में) बलात् ठूँसना न होगा ? केशव और देव दोनों ने ही श्रृंगार के साथ यही बलात्कार किया है। देव ने सभी रसों के श्रृंगारपरक वर्णन किये हैं जिनमें उन्हें कोई सफलता नहीं मिली। प्रिय के ऊपर खंडिता की भौंहों का चढ़ना और अपने शत्रु पर किसी वीर का भौंहें तानना दोनों में बड़ा अन्तर है। सम्भवत: रागाधिक्य के कारण ये कवि उसे समझने में असमर्थ रहे। निम्नांकित छन्द में यह साबित करने की कोशिश की है कि श्रृंगार तथा वीभत्स, वीर तथा भयानक, हास्य तथा करुण के विरोधों को चतुराई के साथ दूर किया जा सकता है। किन्तु दो रसों के आलम्बन की भिन्नता के कारण ऐसा सम्भव नहीं हो सका है। देखिये, यह वीभत्स श्रृंगार का उदाहरण :-

"लै मुख-सिन्ध-सुधा सुख सौतिके आये इतै रुचि ओठ अमी की।
सौंह निसंक लई भरि अंक मयंक-मुखी सुससंकति जी की।
जानि गई पहचानि सुगन्ध कछू छिन मानि भई मुख फीकी।
ओछे उरोज अंगौछि अगौंछन पोंछति पीक कपोलन पीकी।"

—शब्द-रसायन

देव ने रस-दोष के अन्तर्गत रस के अन्य भेद भी किये हैं—यथा—

"सरस-निरस, सम्मुख-विमुख, स्व-पर-निष्ठ पहिचानि।
भीत-अभीत, उदास चित, उचित सुचित बखानि।"

—शब्द-रसायन।

इनका संकेत ग्रहण किया गया है रसतरंगिणी ही से किन्तु देव ने उपर्युक्त रस-भेदों का न तो लक्षण दिया है और न किसी अन्य प्रकार से उन्हें समझाने की ही चेष्टा की है।

रस-तरंगिणी के ही आधार पर देव ने परंपरा से चले आते हुए एक प्रकार के संचारियों को दो विभागों में रखकर देखा—शारीरिक व तन-संचारी और आंतरया मन-

संचारी ।[1] कवि के ही कथन—स्तंभादिक सारीर अरु, आंतर निरवेदादि—के अनुसार जिन्हें सात्विक भाव कहा जाता है उन्हें उसने तन-संचारी और जिन्हें परम्परया संचारी की संज्ञा प्राप्त थी उन्हें संचारी कहा। वैसे सात्त्विक भाव, जिन्हें देव ने तन-संचारी के अन्तर्गत रखा है उनकी गणना हम अनुभाव में ही करते हैं। ऐसा करके देव ने आगे यह स्पष्ट करने की कोशिश नहीं की कि सात्विक भावों को क्यों हम तन-संचारी के अन्तर्गत स्थान दे रहे हैं।

देव ने 'छल' को एक चौंतीसवाँ संचारी माना। किन्तु इसका भी आधार रस-तरंगिणी है—"संगुप्त क्रिया—संपादनम् छलम्।" अवहित्था और देव-–प्रदत्त 'छल' नामक संचारियों की धारणाओं में कोई अन्तर नहीं दिखायी पड़ता। भाव-विलास, जिसमें संचारी की इस नवीनता का उल्लेख किया गया है, पश्चात् रची जाने वाली रीति-पुस्तक शब्द-रसायन में इस भूल को समझकर देव ने छल को उसमें नहीं रखा है।

इसी तरह देव ने उक्त-ग्रंथ के ही आधार पर कतिपय संचारियों के अवान्तर भेद भी कर दिये हैं। यही नहीं देव ने काव्याचार्यों द्वारा वर्णित आठ काम-दशाओं के भी नाना प्रकार के भेदोपभेद कर डाले हैं।

यह कहने में कोई संकोच नहीं होता कि देव-द्वारा रस-तरंगिणी के आधार पर किये गये भेदोपभेद मान्यता में कोई योग नहीं देते हुए नहीं दिखायी पड़ते। जैसा कि डॉ॰ नगेन्द्र ने लिखा है कि "परिस्थति के अणु जैसे परिवर्तन हमारे भावों में कितने सूक्ष्म परिवर्तन कर देते हैं; इसका हिसाब कौन लगा सकेगा ? इस प्रकार की संयोजनाओं द्वारा तो असंख्य नवीन भेदों की सृष्टि की जा सकती है, अतएव साधारण विवेक यही कहता है कि उपलक्षण-रूप में मूल भेदों का वर्णन करके ही प्रसङ्ग को समाप्त कर देना चाहिये। इस प्रकार का विस्तार रीति के अध्ययन में साधक न होकर बाधक ही होता है।"[2]

नायिका-भेद-विवेचन

'सिंगार को सार किसोर-किसोरी।'

नायक-नायिका शृंगार रस के आलंबन हैं। जब नायिका नायक और नायक नायिका को देखकर अनुरागपूर्ण हो उठते हैं तब वे एक-दूसरे के आलंबन होते हैं। इस कारण इसका विवेचन 'रस-विवेचन' के अन्तर्गत ही होना चाहिए; किन्तु यहाँ अलग इस-

---

१ विकारश्च द्विविधा। आन्तरः शारीश्च।

—रसतरंगिणी।

२ देव और उनकी कविता—डॉ॰ नगेन्द्र, पृ॰ १४२।

लिए किया जा रहा है कि इसका वर्णन इतनी रुचिपूर्वक और इतने विस्तार से रीतिबद्ध कवियों ने किया है कि इसका अलग स्थान बन गया है।

सम्भवतः समस्त रीतिबद्ध बड़े कवियों में देव ही एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने नायिका-भेद में सर्वाधिक रुचि दिखलायी है। सारे काव्यांग एक तरफ और नायिकाभेद-विवेचन एक तरफ, यह तो है देव के काव्य-विवेचन अनुपात। इसी से आप उनकी रुचि का अन्दाज लगा सकते हैं। देव के नायिका भेद-विवेचन परक ग्रन्थ हैं—भाव-विलास, भवानी-विलास, कुशल-विलास, प्रेम-तरंग, सुजान-विनोद, सुखसागर-तरंग। ये ग्रन्थ नायिकाओं के नाना भेदोपभेद से आक्रान्त हैं। ऐसा जायज भी था क्योंकि 'किशोर किशोरी' शृंगार के जो सार ही ठहरे। उसमें भी समस्त रीतिकालीन कवियों—चाहे रीतिबद्ध हों अथवा रीति-मुक्त—ने रस की दृष्टि से नायिका को प्रधानता दी है। देव के अनुसार नायिका को यौवन, रूप, गुण, शील, प्रेम, वैभव, कुल और अलंकारों से अलंकृत होना चाहिए। ऐसी ही नायिका अष्टांगवती नायिका कहलाती है :—

"पहिलै जोबन, रूप, गुन, सील, प्रेम पहिचानि।
कुल, वैभव, भूषन बहुरि, आठों अंग बखानि॥"

—रस-विलास।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है; देव ने नायिका-भेद में बड़ी रुचि दिखलायी है, तत्परिणामस्वरूप उसमें बड़ा विस्तार आ गया है। नायिका-भेद के अन्य आचार्यों ने जहाँ उन (नायिकाओं) का विभाजन कर्म, काल, दशा, गुण, वयः क्रम और जाति के अनुसार किया था वहाँ देव ने इनके अतिरिक्त देश, प्रकृति, सत्त्व और अंश के आधार पर अन्यान्य भेदों की कल्पना की है : देखिए :—

"जाति, कर्म, गुण, देस अरु, काल, वयः क्रम जानु।
प्रकृति, सत्त्व, नायिका के आठौ भेद बखानु॥"

—कुशल-विलास

देव द्वारा स्थापित नायिका-भेद की कतिपय नवीन मान्यताएँ।

(१) धर्मानुसार किये जाने वाले भेद—स्वकीया, परकीया और सामान्या में से देव ने स्वकीया के वयः क्रम के अनुसार पुनः ५ भेद किये हैं—१. वयस्सन्धि, २. नवलवधू, ३. नवयौवना, ४. नवल अनंगा और ५. सलज्ज रति। वास्तव में ये प्राचीन क्रमशः चले आते हुए भेद वयः सन्धि, अज्ञात यौवना, ज्ञात-यौवना, नवोढ़ा और विश्रब्ध नवोढ़ा नामक भेद ही हैं। ऐसा करने से महज एक कवि की खींचतान करने वाली

रुचि को संतुष्टि-मात्र मिल गयी होगी और उससे कोई साहित्यिक योग तो मिला दिखता नहीं। ये पांच-भेद विश्वनाथ अथवा दशरूपककार धनंजय से ग्रहण किये गये होंगे। हिन्दी कवियों में देव से पूर्व केशव ने भी इनमें से अन्तिम चार नायिकाओं का उल्लेख किया है। यही नहीं लगता है कि नायिकाओं के कतिपय अन्य भेदोपभेदों को भी केशव से देव ने अपनाया होगा जिनका विस्तार में उल्लेख यहाँ नहीं किया जा सकता।

एक बात और कि देव ने नायिकात्व को केवल पैंतीस वर्ष तक ही सीमित माना है। इन ३५ वर्षों को भी उन्होंने निम्नोक्त पांच भागों में विभक्त किया है :—

१	देवी	—७ वर्ष तक
२	देव-गन्धर्वी	—१४ ,,
३	गन्धर्वी	—२१ ,,
४	गन्धर्व-मानुषी	- २८ ,,
५	मानुषी	—३५ ,,

कवि की मान्यता के अनुसार इसमें देवी तो पूज्या होती है और गन्धर्वी भोग्यार्थ तथा मानुषी संतानोत्पादन एवं सुख-शान्ति के लिए होती है। लगता है कि वर्ष-विभाजन की यह कल्पना देव की नवीन अवश्य है किन्तु अपने आप में यह बहुत सार्थक और उपयोगी नहीं है, क्योंकि लचीली मानव-प्रकृति को इस प्रकार निश्चित् खण्डों में बाँटकर अध्ययन करना बहुत समीचीन और औचित्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

"सुर अंस भवानी पूज्य जग गंधर्वा संभोग—प्रिय।
कुल धर्म कर्म संतान हित सरस्वती नर-अंस-त्रिय ॥"

— भवानी-विलास।

नायिकाओं के कई अवान्तर भेद देव में ऐसे मिलते हैं जिनका आधार भानुदत्त की रस-तरंगिणी है।

सामान्य भेदों के अतिरिक्त देव ने 'काल-क्रम' के आधार पर 'गतागत-पतिका' नामक एक नवीन नायिका की कल्पना की है।

गुणानुसार इन नायिकाओं के जो उत्तमा, मध्यमा और अधमा नामक भेद किये गये थे उसे देव ने भी किया है जिनका मूल आधार भरतकृत नाट्यशास्त्र ही है।

कवि की विस्तार-प्रिय रुचि यहीं तक नायिका-भेद कर रुकी नहीं रही वरन् प्रकृति, सत्व और देश के अनुसार भी नायिकाओं के अनेक भेदों की कल्पना की है। इस प्रकार यह मानना पड़ेगा कि देव ने अन्य कवियों अथवा काव्याचार्यों की अपेक्षा प्रकृति, सत्व, अंश और देश के आधार पर अनेक प्रकार की नायिकाओं की कल्पना और अधिक की है।

वर्ण-व्यवसाय की दृष्टि से भी देव ने नायिकाओं का विभाजन किया है जिनके नाम विस्तारभय के कारण यहाँ नहीं दिये जा सकते। वैसे सत्व, प्रकृति और अंश के आधार पर किये गये विभाजन का संकेत आयुर्वेद और कामशास्त्र से तथा देश-भेद का संकेत 'काव्य प्रकाश' एवं केशव की 'रसिक-प्रिया' से, और वर्ण-व्यवसाय को लेकर किया गया विभाजन रहीम खानखाना के 'बरवै नायिका भेद' से प्राप्त हो जायेगा। साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से विचार करने पर यह मालूम हो जाता है कि क्या ये तेलिन, चुरिहारिन आदि सभी शृंगार के विभाव-पक्ष के अन्तर्गत आ जायेंगी? कहना पड़ता है कि यह विस्तार अनुचित है क्योंकि इनमें से सभी प्रकार की नायिकायें-कुलीन, त्यागी आदि—नायक के शृंगार का आलंबन नहीं बन सकतीं। "वास्तव में इस विस्तार से रस-शास्त्र के मनोवैज्ञानिक विवेचन में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती—वरन् नायिका-भेद का उद्देश्य ही भ्रष्ट हो जाता है।[1]

वैसे इन भेदों के अतिरिक्त देव ने एक विचित्र ढंग से पूर्वराग, प्रथम-संयोग तथा सुख-भोग के साथ मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा के विभिन्न भेदों की संगति बैठायी है। इसी तरह मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा के ही विभिन्न भेदों को लेकर अवस्था, काम-दशा और हाव के साथ संगति बैठाने की पूरी चेष्टा की गयी है। पर इन विचित्र अपूर्ण भेदोंपभेदों में कोई महत्ता और औचित्य नहीं दिखाई पड़ता।

नायिकाओं के अतिरिक्त नायक तथा उनके सहायकों के भेद परंपरायुक्त ही हैं; इस कारण वे महत्वहीन हैं।

अलंकार-विवेचन

देवकृत अलंकार ग्रन्थ दो हैं—भाव-विलास और शब्द रसायन। भाव-विलास में कवि ने ३९ अलंकारों को माना है:—

"अलंकार मुख्य उनतालिस हैं देव कहैं,
येई पुरातनि मुनि मतनि में पाइये।
आधुनिक कविन के सम्मत अनेक और,
इनहीं के भेद और बिबिध बताइये॥"

संस्कृत के प्राचीन आचार्यों में दण्डी आदि ने अलंकारों की संख्या ३६ ही मानी थी। बाद में जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे उन्हीं संख्याओं में भेद-प्रभेद होते रहे। यहाँ तक कि यह संख्या बढ़ते-बढ़ते संस्कृत के प्रसिद्ध परवर्ती अलंकार-ग्रन्थ

---

१ देव और उनकी कविता - डॉ० नगेन्द्र पृ० १५०

कुबलयानन्द में १२० हो गयी। देव ने अलंकार-विवेचन में दण्डी का आश्रय ग्रहण किया है। "इस प्रकार दंडी के ३७ अलंकार ज्यों के त्यों देव ने स्वीकृत कर लिये हैं—केवल दो अलंकार—वक्रोक्ति और पर्यायोक्ति ही ऐसे रह जाते हैं जिनको दंडी ने स्वतन्त्र रूप से ग्रहण नहीं किया।"[1]

देव ने पुनः अपने पुष्ट रीति-ग्रंथ शब्द-रसायन में कुल अलंकारों की संख्या ७० मानी और उनमें ४० को प्रधान तथा ३० को गौण स्थान प्रदान किया। ये प्रधान और गौण मिलकर अनेक हो जाते हैं।

"मुख्य गौण विधि भेद करि, हैं अर्थालंकार।
मुख्य कहौं चालीस विधि, गौण सुतीस प्रकार॥
मुख्य गौण के भेद मिलि, मिश्रित होत अनंत।
गुप्त प्रगट सब काव्य मैं, समुझत हैं मतिमंत।"

—शब्द रसायन

अर्थात् अलंकारों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि "जो ३९ अलंकार भाव-विलास में दिये हुए हैं उनको यदि भामह, दण्डी आदि के साक्ष्य पर प्रधान मान भी लिया जाये, फिर भी शेष ४५, ४६ अलंकारों के चयन में किस सिद्धान्त को आधार बनाया गया है, यह जानना कठिन है। यह आधार अलंकार का स्वतन्त्र महत्व और लोकप्रियता ही हो सकती थी। परन्तु देव द्वारा स्वीकृत अनेक अलंकार स्पष्टतः ऐसे हैं जो इस कसौटी पर खरे नहीं उतरते—जैसे असम्भव, प्रयुक्ति, निषेध, अल्प, अधिक आदि जो प्रचीन होते हुए भी स्वतन्त्र महत्व नहीं रखते।"[2] इसके अतिरिक्त कवि ने कतिपय महत्वपूर्ण अलंकारों को छोड़ भी दिया है, यथा—परिसंख्या और काव्य लिंग आदि।

देव ने शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक और चित्रालंकारों को ही स्थान दिया है। उनमें भी उसने अनुप्रास और यमक से अत्यधिक बल चित्रालंकारों पर दिया है।

शब्दालंकारों से मुख्य अभिप्राय देव का चित्रालंकार से है। शुद्ध रसवादी होने के कारण देव ने चित्र-काव्य को निकृष्ट कोटि का अथवा हेय काव्य माना है। उनका कहना है कि शब्दालंकार प्रधान रचनाओं में एक प्रकार का शब्दगत माधुर्य और वैचित्र्य तो अवश्य रहता है किन्तु अर्थ का अभाव होने के कारण वह जटिल हो जाता है। इस कारण ऐसे काव्य को 'प्रेत' अथवा 'मृतक काव्य' कहा है कवि ने।

"मृतक काव्य बिनु अर्थ के कठिन अर्थ को प्रेत।"

—शब्द रसायन

---

१ देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र—पृ० १५०।
२ वही —१५२।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ महापात्र ने भी चित्र काव्य को काव्य में कोई स्थान नहीं दिया है।

अलंकारों के सम्बन्ध में देव की एक मुख्य मान्यता यह है कि अर्थलंकारों में सर्वं प्रधान हैं—उपमा और स्वभावोक्ति।

"अलंकार में मुख्य हैं; उपमा और सुभाव।
सकल अलंकारिन विषै, परसत प्रगट प्रभाव।।"

शब्द रसायन

इनमें भी उपमा का महत्व सर्वाधिक है।

सकल अलंकारनि विषे, उपमा अंग उपंग।
अथवा
सकल अलंकारनि विषै, उपमा अंग लखाहि।

शब्द रसायन

अलंकारों में स्वभावोक्ति की प्रधानता के पीछे सम्भवतः देव की रसवादी दृष्टि थी जिसने उनसे ऐसा कहलवाया। स्वभावोक्ति से कवि का तात्पर्य भावों की सहज-सरल अभिव्यक्ति से होगा जिससे रसात्मकता की परिपुष्टि होती है।

इसके अतिरिक्त जैसा ऊपर कहा गया है कि देव उपमा को अलंकारों में सर्वोपरि मानते हैं। उनका विचार है कि वह (उपमा) सभी अलंकारों के मूल में है। उपमा को लेकर उसके अनेक भेद देव ने किये हैं, यथा—अलंकारों को लेकर उनके पीछे उपमा शब्द जोड़ दिया—अधिकोपमा, उल्लेखोपमा, सन्देहोपमा, भ्रमोपमा आदि। परंतु यह एक विनोद मात्र ही लगता है, ऐसा करने में कोई सार्थकता नहीं दिखलायी पड़ती और न कोई पुष्ट साहित्यिक योग ही मिलता हुआ दिखायी पड़ता है। इस कारण इनका और विवेचन अपेक्षित नहीं। उपमा के सम्बन्ध की यह उद्भावना देव की मौलिक उद्भावना नहीं है बल्कि उनके पूर्व संस्कृत में वामन और हिन्दी में भूषण ने ऐसा माना था। उपमा की इस प्रधानता के औचित्य पर प्रकाश डालते हुए डॉ॰ नगेन्द्र ने भी लिखा है:—

"उपमा के मूल में मुख्यतः अपने भाव को स्पष्ट करने की ही प्रवृत्ति रहती है। इसमें सन्देह नहीं कि हमारी आत्माभिव्यक्ति के लिए इस प्रवृत्ति का व्यापक महत्व है। परन्तु फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि आत्माभिव्यक्ति के सभी रूप स्पष्टीकरण के अंतर्गत नहीं आ सकते। वास्तव में अपनी बात दूसरे पर स्पष्ट करने के लिए भी उसको बढ़ा-चढ़ाकर या नमक मिर्च लगाकर या कम से कम एक खास अन्दाज से कहना जरूरी होता है। अतएव स्पष्टीकरण की अपेक्षा प्रभावित अथवा उत्तेजित करने की

प्रवृत्ति अधिक मौलिक है, और वक्रोक्ति अथवा अतिशय जो इस प्रवृत्ति का माध्यम है स्पष्टीकरण के माध्यम उपमा की अपेक्षा निश्चय ही अधिक मौलिक है।[1]"

शब्द-शक्ति-विवेचन

देव ने शब्द-शक्तियों—अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और तात्पर्य—का विवेचन अपने महत्वपूर्ण रीति-ग्रन्थ शब्द-रसायन में किया है। यह विषय संस्कृत-काव्य-शास्त्र में इतनी सूक्ष्मता और विशद्ता से विवेचित हुआ था कि उसमें नवीन उद्‌भावना अथवा मौलिक विभेदों के लिए अब कोई स्थान नहीं रह गया था और हिन्दी के ऐसे आचार्यों के लिए जो जीवनभर काव्यशास्त्रीय विवेचन के नाम पर संस्कृत काव्य शास्त्र की नकल करते रहे, उनके लिए तो बिल्कुल ही जगह नहीं रह गयी थी। लक्षणा के रूढ़ि और प्रयोजनवाती के भेदों को मिलाकर कुल १३ भेद देव ने माना। इसका आधार मम्मटकृत 'काव्यप्रकाश' नामक ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त देव ने अपनी विशिष्टता बताने के लिए ही जैसे तीन शक्तियों के मूलाधारों को लेकर उनके चार-चार भेद किये हैं। यथा :—

१. अभिधा—जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा।

२. लक्षणा—कार्य-कारण, सादृश्य, वैपरीत्य एवम् आक्षेप।

३. व्यंजना—बचन-विकार, चेष्टा-विकार, क्रिया-विकार एवम् स्वर-विकार।

इन शब्द-शक्तियों के बारे देव ने यह कहा है कि किसी शब्दार्थ में इन तीनों का मेल होता है किन्तु उनमें से कौन सी कहां अधिक होती है उसी की ही स्थिति हम वहाँ मान लेते हैं :-यथा--

"तिहूँ शब्द के अर्थ ये तीनिउ ओतप्रोत।
पै प्रवीन ताही कहत, जाको अधिक उदोत।।

—शब्द-रसायन।

इसी आधार को लेकर देव ने उक्त शब्द-शक्तियों के कतिपय भेद कर डाले हैं जो अन्यत्र कहीं भी नहीं दिखायी पड़ते, यथा-अभिधा में अभिधा, अभिधा में लक्षणा, अभिधा में व्यंजना, लक्षणा में अभिधा, लक्षणा में लक्षणा, लक्षणा में व्यंजना, इसी प्रकार व्यंजना में भी अभिधा, लक्षणा और व्यंजना को स्थान दिया है।

उक्त तीनों शक्तियों के अतिरिक्त एक चौथे प्रकार की शब्द-शक्ति को देव ने माना है जिसका नाम है तात्पर्य। इसके संबंध में कहा है कि यह तीनों शब्दार्थों में व्याप्त रहती है।

"तात्पर्ज चौथो अरथ, तिहूँ शब्द के बीच।"

शब्द-रसायन।

१. देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, पृ० १५६—५७।

संस्कृत के आचार्यों में मम्मट, विश्वनाथ आदि ने इस वृत्ति (तात्पर्य) की चर्चा अपने ग्रंथों में की है। देव से पूर्व हिन्दी में चिंतामणि ने तात्पर्य नामक चौथी शब्द-शक्ति का उल्लेख किया था। इस कारण देव इस वृत्ति के कोई मौलिक आविष्कर्ता नहीं हैं।

रीति अथवा गुण-विवेचन

रीति से देव का तात्पर्य गुण से है। यह एक विचित्र बात है कि देव ने सर्वत्र ही रीति को गुणों के स्थान पर रखा है। उन्होंने रीति का रस से अविच्छिन्न संबंध माना है और उसे काव्य का द्वार कहा है :—

"ताते पहिले बरनिए काव्य-द्वार रस-रीति।"

साहित्यदर्पण में विश्वनाथ ने काव्य-पुरुष के रूपक में रीति को उसके अंग-संस्थान के रूप में रखा है। इस दृष्टि से रीति अंग-रूप में काव्यात्मा की वाह्य अभिव्यक्ति का माध्यम है। इसी तरह देव की रीति भी 'काव्य-द्वार' के रूप में काव्य का एक माध्यम ही मानी जायेगी। अतएव प्राचीन संस्कृत आचार्यों और देव की रीति-धारणाओं में कोई अन्तर नहीं दिखायी पड़ता, क्योंकि रीति-शरीर तो काव्यात्मा की एक माध्यम है।

रीति के अंतर्गत देव ने अनेक गुणों का समावेश कर लिया है। प्रारम्भ में गुणों की संख्या दश मानी गई—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, समाधि, ओज, अर्थ व्यक्ति, उदारता और कांति-थी किन्तु बाद में ध्वनिवादी आचार्य आनंदवर्धन ने इनकी संख्या घटाकर तीन कर दी—माधुर्य, ओज और प्रसाद। बाद में मम्मटाचार्य और विश्वनाथ सभी ने एक स्वर से गुणत्रय का समर्थन किया। किन्तु देव ने ध्वनिकार से पूर्ववर्ती संस्कृताचार्यों की धारणा के अनुसार न केवल दश गुण ही माना वरन् अनुप्रास और यमक-जैसे शब्दालंकारों को उसके अंतर्गत रखते हुए उसकी संख्या १२ कर दी।

"यमक और अनुप्रास को रीति (गुण) मानना साधारणतः असंगत है क्योंकि गुण काव्य की आत्मा का धर्म, दूसरे शब्दों में काव्य का स्थायी धर्म है, इसके विपरीत यमक और अनुप्रास रस के आंतरिक तत्व न होने से काव्य के अस्थायी धर्म ही होंगे। परन्तु देव की इस स्थापना से एक महत्वपूर्ण संकेत अवश्य मिलता है : वह यह कि पण्डितराज जगन्नाथ की भाँति वे गुणों की स्थिति अर्थ के साथ-साथ वर्णों में भी मानते हैं।"[1]

गुणों के अपने इस विवेचन में देव दण्डी के बहुत ऋणी हैं, क्योंकि कांति और उदारता नामक गुणों को छोड़ कर शेष सात गुण दण्डी के गुण-लक्षणों के अनुवाद मात्र हैं।

रीति (गुणों) के साथ देव ने जो नवीनता बर्ती कि उनके दो भेद कर डाला—नागर और ग्राम्य। नागर रीति सुरुचिप्रधान है और ग्राम्य में रसाधिक्य होते हुए भी सुरुचि का अभाव होता है।

---

१. देव और उनकी कविता, पृ० १६१—डा० नगेन्द्र, ।

"नागर गुन आगर, दुतिय रस सागर रुचि हीन।"

शब्दरसायन

किन्तु इस मान्यता के उदाहरण से इसके अन्तर का स्पष्टीकरण नहीं होता। अन्य मान्यताओं की भाँति देव की यह मान्यता भी असगत और अमान्य है।

इसके अतिरिक्त देव ने कैशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती वृत्तियों का भी उल्लेख किया है। इन वृत्तियों पर रसों के दृष्टिकोण से विचार होता है। केशवदास की रसिकप्रिया के आधार पर ही देव ने भी रसों के साथ वृत्तियों का विवेचन किया है।

पिंगल-विवेचन

पिंगल को छन्दशास्त्र भी कहा जाता है। संस्कृत की काव्यशास्त्रीय पुस्तकों में पिंगल की कोई चर्चा नहीं थी क्योंकि उस पर अलग से ग्रंथ होते थे। हिन्दी में भी सामान्यतः यही परम्परा अपनायी गई है। किसी-किसी हिन्दी आचार्य ने अपने काव्यशास्त्रीय आलोचना के ग्रंथों में पिंगल को स्थान दिया है और किसी ने नहीं। कुछ हिन्दी के आचार्य ऐसे हैं जिन्होंने पिंगल-विवेचन लक्षण-उदाहरण देकर तो नहीं किया किन्तु अपनी रचनाओं में सैकड़ों छन्दों का प्रयोग कर अपने पिंगल-ज्ञान का भरपूर परिचय दिया है, यथा, केशवदास आदि। वैसे सही बात तो यह है कि पिंगल का काव्यशास्त्र के मुख्य तत्वों से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए शायद संस्कृत के लगभग सभी और हिन्दी के अधिकांश आचार्यों ने अन्य काव्यांगों के साथ इस (पिंगल) का विवेचन नहीं किया। हिन्दी के प्रसिद्ध आचार्य कवि भिखारीदास ने शायद संस्कृताचार्यों की पद्धति पर छन्दशास्त्र पर अलग से छन्दोर्णव पिंगल नामक पुस्तक की रचना की है। किन्तु देव ने इसके विपरीत रस, भाव एवम् अलंकारादि के साथ ही पिंगल का भी विवेचन किया है। यह विवेचन कवि के शब्दरसायन नामक रचना के अन्तर्गत हुआ है।

देव के अनुसार छन्द कविता की गति हैं। इसके पश्चात् छन्द को उन्होंने वर्णिक और मात्रिक में बाँटकर बहुत कुछ वैसा ही विवेचन किया है जैसा कि और लोग पहले कर चुके थे। छन्दगत विवेचन से सम्बन्धित जो नवीनतायें हैं उनको लक्ष्य करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है :–[1]

(१) एक ही छन्द के अन्तर्गत उसके लक्षण और उदाहरण दोनों आ गये हैं, जो है संस्कृत-पिंगल-ग्रन्थों की नकल ही।

(२) भगण के द्वारा सवैया के विभिन्न भेदों के लक्षण दिये गये हैं।

(३) घनाक्षरी और सवैया के सुधा, अलसा तथा मंजरी आदि कतिपय नवीन भेद किए गए हैं। ये भेद महत्वपूर्ण हैं जिसके कारण ये आज भी 'देव घनाक्षरी' नाम से पुकारे जाते हैं।

१. देव और उनकी कविता, डॉ० नगेन्द्र, पृ० १६४।

निष्कर्ष

(१) देव शुद्ध रसवादी आचार्य थे। अनेक स्थलों पर उनकी इस मान्यता की झलक मिलती है :—

(अ) "अलंकार भूषण, सु रस जीव, छन्द तन भाख।
तन भूषण हू बिन जिये, बिन जीवन तन राख।"

(ब) "काव्य सार शब्दार्थ को, रस तेहि काव्य सुसार।"

शब्द-रसायन

(२) अलंकारों को काव्य का अलंकृत करनेवाला तत्व माना है। अलंकारों से आवेष्ठित होने पर कविता-कामिनी का रूप अद्भुत (सौंदर्यशाली) हो उठता है :—

"कविता कामिनि सुखद पद, सुबरण सरस सुजाति।
अलंकार पहिरे अधिक, अद्भुत रूप लखाति।"

शब्दरसायन

(३) देव के अनुसार समर्थ काव्य में शब्द, अर्थ, भाव, रस, छन्द एवम् अलंकार का होना अत्यावश्यक है —

'शब्द सुमति मुखते कढ़ै, लै पद वचननि अर्थ।
छंद भाव भूषन सरस, सो कहि काव्य समर्थ।।"

(४) देव ने रस पर इतना ध्यान दिया कि ध्वनि को भूल ही गये अथवा उसे छोड़ ही दिया। विचार करने पर मालूम होता है कि उनका ऐसा करना सकारण था। जैसा कि इसके पूर्व कहा जा चुका है कि देव स्वभावोक्ति को प्रधान मानते थे इस कारण उन्होंने अभिधा को उत्तम, लक्षणा को मध्यम और व्यंजना-प्रधान काव्य को अधम माना —

"अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षना लीन।
अधम व्यंजना रस-कुटिल, उलटी कहत नवीन।।"

शब्द-रसायन

सिद्धान्त-रूप में इसके ग्रहण का परिणाम यह हुआ कि कवि प्रायः सर्वत्र ही भाव की निःछल और सहज अभिव्यक्ति करता हुआ पाया जाता है।

अभिव्यंजना-पक्ष

हिन्दी का रीतिकाल कला का काल था। उस काल के कवियों ने कविता की अभिव्यंजना-पद्धति पर काफी बल दिया। उसके लिए उन्होंने काव्य के शिल्प-विधान का रूप निश्चित्-सा कर लिया था। इसी कारण तत्कालीन साहित्य में कलात्मकता के प्रति एक विशेष आग्रह मिलेगा। कविता को कला से अभिमंडित करना ही जैसे उस काल का उद्देश्य था। वास्तव में पूरे हिन्दी-साहित्य में इसे संपूर्ण अर्थों में 'कला के लिए

कला' वाला काल कह सकते हैं। अभिव्यंजना-प्रसाधन अथवा कलात्मक सुरक्षा के इस विशेष आग्रह के कारण तत्कालीन काव्य के अन्तर और वाह्य अथवा आलंकारिक शब्दावली में कहें तो उपमेय (वर्ण्य-विषय) और उपमान (वर्णन) सब निश्चित् हो चुके थे। तात्पर्य यह कि वर्णनीय वस्तु कौन सी है और उनका वर्णन कैसे किया जाय—इसके सांचे तैयार थे। वर्णनीय वस्तुओं में नायक-नायिका के विभिन्न भेदों के रूप में नर-प्रकृति (Human Nature) का और ऋतु-वर्णन आदि के रूप में प्रकृति (Nature) का रूप कतिपय वर्णनीय विभागों में बांटकर सीमित कर दिया गया था। किन्तु आज हम मनुष्य और जगत् का ऐसा विभाजन करके पार नहीं पा सकते। इस रूप-निश्चिति के कारण एक प्रकार की शास्त्रीयता का विकास हुआ जिसको जाने बिना हम वहुत कुछ ऐसे (रीति) साहित्य के आनंद से वंचित रह जाते। परिणामस्वरूप उस काल के कलाकारों ने जितना अभिव्यंजना-कौशल की ओर ध्यान दिया उतना भावों की ओर नहीं।

चित्र-निर्माण

रीतिकालीन क़विता की एक वड़ी विशेषता है चित्रमयता। भाव अरूप और अमूर्त होते हैं। उनको रूप देने वाले कवि के पास भाषा-शब्दादि होते हैं और चित्रकार के पास तूलिका, रंग और कागज अथवा आधार-पट आदि। रीतिकालीन कवियों ने अपनी समर्थ भाषा-द्वारा चित्रकारों की भांति भावों के सुन्दर चित्र खींचे हैं। इस कला में वे बड़े निपुण और दक्ष थे। भाव जब अपनी अनुभूति में उत्कर्ष को प्राप्त हो जाता है तभी उसकी अभिव्यक्ति चित्रात्मक अथवा अत्यन्त सजीव रूप में होती है। रीतिकाल में नख-शिख के नाम पर नायिका (आलम्बन) का जितना रूप-वर्णन किया गया उतना नायक आदि का नहीं। देव इस कला में शायद सबसे आगे थे। उनके कुछ रूप-चित्र तो इतने प्रसिद्ध और प्रख्यात् हैं, कि काव्य-रसिकों के मुख से प्राय: सुनने में आते हैं:—

स्थिर चित्र

"पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई 'देव'
श्रीफल उरोज आभा आभासै अधिक-सी।
छूटी अलकनि झलकनि जल कननि की,
बिना बेंदी बंदन बदन-सोभा विकसी॥
तजि-तजि कुंज जेहि ऊपर मधुप पुंज,
गुंजरत मंजुरव बोलै बाल पिक-सी।
नैननि हँसाइ नेकु नीबी उकसाइ, हँसि,
ससि-मुखी सकुचि, सरोवर ते निकसी॥"

डॉ० नगेन्द्र ने इसकी सुन्दर व्याख्या करते हुए लिखा है—"इस चित्र में रंगों का प्रयोग नहीं है, इसका सौन्दर्य वांछित अवयवों के चयन पर आश्रित है। पीतरंग की साड़ी का भीगकर नायिका के गोरे अंगों में लिपट जाना और उन्हीं में मिल जाना, वस्त्र के शरीर से चिपक जाने के कारण श्रीफल जैसे सुडौल उरोजों का विशेष-रूप से व्यक्त हो जाना, बिखरी हुयी अलकों से जल-कणों का झलकना, माथे की बिन्दी और माँग का सिंदूर धुल जाने पर मुख की सहज-शोभा का निखर आना, नेत्रों में हँसना, अन्त में थोड़ा नीबी को उकसाना और संकोच से झुककर धीरे से सरोवर से बाहर आ जाना—ये सभी संकेत अपने में अत्यन्त मनोरम होने के अतिरिक्त चित्र की दृष्टि से भी सर्वथा सटीक हैं। इसमें रूप के तत्वों को बड़ी सूक्ष्म-दृष्टि से पकड़कर एक अविकल सौंदर्य-चेतना के द्वारा संश्लिष्ट कर दिया गया है जिसके कारण चित्र पूर्ण हो गया है।"

यह तो स्थिर-चित्र का उदाहरण था, अब एक अन्य गतिशील चित्र देखिए:—

गत्यात्मक चित्र

"पीछे परबीनै-बीनैं संग की सहेली, आगे
भार डर भूषन डगर डारै छोरि-छोरि;
मोरै मुख मोरनि त्यों चौंकत चकोरनि, त्यों
भौरन की भोर-भीरु हेरैं मुख मोरि-मोरि।
एक कर आली कर ऊपर ही धरे, हरे-
हरे पग धरै देव चलै चित चोरि-चोरि;
दूजे हाथ साथ लै सुनावति बचन, राज-
हंसनि चुनावति मुकुत-माल तोरि-तोरि॥"

इस प्रकार देव की कविता में ऐसे अनेक चित्र देखने को मिलेंगे जिसके कारण भाव मूर्तिमान होकर समक्ष आ जाता है। जब भाव अपनी ऐसी सजीव रूप-रेखा लेकर आता है तब वह अपने पाठकों के लिये सहज संवेद्य हो जाता है जिससे उसका स्थायी प्रभाव पड़ता है।

रंग-प्रयोग

इन सादे काव्य-चित्रों को रंगने अथवा अनुरंजित करने के लिए तत्कालीन रीतिकवियों ने रंगों का भी प्रयोग किया जिनकी ओर निर्देश नीचे के एकाधिक उदाहरणों में किया जा रहा है। देव ने रंगों का बड़ा मधुर, सुष्ठु और भाव-व्यंजक प्रयोग किया है। एक उत्कृष्ट चित्र लीजिए।

एक-रंग-निर्मित चित्र

"फटिक सिलानि सों सुधारयो सुधा-मन्दिर,
उदधि दधि को सो उफनाय उमगे अमंद।

बाहर तें भीतर लौं भीति न दिखाई देत,
छोर कैसे फेन फैली चांदनी फरस बन्द।

तारा-सी तरुनि तामैं देव जगमग होति,
मोतिन की ज्योति मिल्यो मल्लिका को मकरंद।

आरसी-से अम्बर मैं आभासो उज्यारी ठाढ़ी,
प्यारी राधिका को प्रतिबिम्ब सो लगत चन्द।"

"पृथ्वी और आकाश में सर्वत्र चांदनी का प्रवाह उमड़ रहा है। उसमें नहाता हुआ स्फटिक-निर्मित सौध-मन्दिर ऐसा लगता है मानो दधि का समुद्र हो, संगमर्मर के फर्श पर मानो दूध की लहरें लहरा रही हैं। उस फर्श पर तारिकायें जैसी श्वेत-वसना गौरांगी तरुणियां खड़ी हैं जिनके शरीर मोती और मल्लिका के आभूषणों से जगमगा रहे हैं। उनके मध्य में है चन्द्रकांता राधिका। उधर आकाश में भी यही दृश्य है—वहां भी चांदनी का समुद्र उमड़ रहा है और उसमें तारिकाओं के समूह से घिरा हुआ चन्द्रमा अद्भुत आभा विकीर्ण कर रहा है। ऐसा प्रतीत होता है मानो आकाश ने आरसी का रूप धारण कर लिया है, जिसमें पृथ्वी का यह संपूर्ण दृश्य प्रतिबिंबित हो रहा है।.........
इस चित्र में चांदी के औज्ज्वल्य की कितनी प्रखर जगमगाहट है—सारा चित्र जैसे झलझला रहा है। मैं समझता हूं कि चित्र-सामग्री की समृद्धि की दृष्टि से समस्त रीतिकाल में देव का स्थान अन्यतम है—ऐसे उदाहरण उनमें अनेक मिलेंगे जिनमें चांदनी, चांदी, सोना, हीरे-मोती, तरह-तरह के जवाहरात, जरी के वस्त्राभूषण, अनेक प्रकार के फूल, स्फटिक शिला, जल की फुहार आदि का अनंत वैभव बिखरा हुआ है।"[1]

उपर्युक्त दृष्टि से देखने पर यह पता लगता है कि जिस प्रकार रीतिकाल के अन्य कवियों की कविताओं में मानवीय-प्रकृति (Human Nature) को ही प्रधानता मिली है उसी प्रकार देव की कविता में भी प्रकृति का केवल उद्दीपनात्मक रूप ही प्रधान है। महत्वपूर्ण न होने से प्रकृति-वर्णन की आलोचना यहां नहीं की जा रही है।

---

१ देव और उनकी कविता : डा० नगेन्द्र, पृ०१७८।

अलंकार-विवेचन

अलंकार के समविन्त् प्रयोग ने रीतिकाव्यकामिनी को सजाया ही है। इसीलिए उस काल के सभी कवियों ने अपनी कविता में अप्रस्तुत-विधान का प्रयोग किया। देव ने परंपरागत उपमानों का प्रयोग बहुत किया है। इस प्रकार के राशि-राशि उदाहरण देव की कविताओं में देखने को मिलेंगे। इन कवि-परंपरा-मान्य उपमानों का निश्चितीकरण संस्कृत-साहित्य में पहले से ही हो गया था। उन्हीं उपमानों को अपनाकर हिन्दी-रीतिकवि भी चलते रहे। उपमा अलंकार को लीजिए—

"मंद हंसी अरबिन्द ज्यों बिन्द, अंचै गये दीठि मैं दीठि खुभै कै।
कंज की मंजिम मंजन मानों, उड़े चुनि चंचुनि चंचु चुभै कै॥"

"यहां अप्रस्तुत-विधान के द्वारा नेत्रमिलन की सूक्ष्म अनुभूति कराई गयी है। उपमान पुराने हैं; परन्तु उनकी योजना नवीन है, अतएव अलंकार में एक नया चमत्कार ही आ गया है।"

'माखन सों मन दूध-सो जोवन' में मृदुल-मन और दूध के समान स्वच्छ एवं स्निग्धता-संयुक्त यौवन के लिए कितनी सुन्दर एकदेशीय लुप्तोपमा का प्रयोग किया गया है। उपमाएं कितनी सुन्दर और स्वाभाविक हैं।

देव को अप्रस्तुत विधान बड़ा प्रिय था।

कई स्थलों पर कवि ने उपमान के प्रकारों की दृष्टि से मूर्त को अमूर्त से अमूर्त को मूर्त से अभिव्यंजित करने का सफल प्रयास किया है। कवि का, जैसा चल कर हम आगे देखेंगे, भाषा पर अद्भुत अधिकार था इस कारण कवि का अप्रस्तुत-विधान चमक उठा है। पाश्चात्य-साहित्य के 'मानवीकरण' (Personification) संज्ञक अलंकार का भी प्रयोग देव ने किया है। देखिये :—

मानवीकरण

'तेरो कह्यो करि-करि, जीव रह्यो जरि-जरि,
हारी पांय परि-परि, तऊ तैं न की सँभार;
ललन बिलोकि 'देव' पल न लगाये, तब
यों कल न दीनी तैं छलन उछलनहार।
ऐसे निरमोही सों सनेह बाँधि हौं बँधाई,
आप बिधि बूड़्यो मांझ बाधा-सिंधु निराधार;
एरे मन मेरे, तैं घनेरे दुख दीन्हें, अब
ए केवार दैकै तोहि मूँदि मारौं एकै बार।"

इसमें मन जैसे अमूर्त तत्व को मानवीय व्यक्तित्व प्रदान किया गया है। उसे घना दुःख देने वाला कह कर उसे 'मूंद-मारने' का त्रास दिया गया है। मनको मानवीकृत करके पेश करने की शैली का प्रयोग सूर-तुलसी आदि भक्त कवियों में भी मिलती है। इसी प्रकार की दो पंक्तियों को और देखिए :—

"धार में धाइ धँसी-निरधार ह्वै, जाय फँसी उकसीं न अँधेरी,
री ! अँगराय गिरी गहिरी, गहि फेरे फिरीं न, घिरीं नहिं घेरी।"

यहाँ भी रूप-रस-लालची आँखों को मधुमक्खी जैसा व्यक्तित्व प्रदान किया गया है।

अब दो-एक अन्य भारतीय अलंकारों का उदाहरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है जिसमें कवि की काव्य-कुशलता का खासा उत्कर्ष दिखाई पड़ता है।

विभावना

"ये अँखियाँ बिनु काजर कारो, अँयारी चितै चित में चपटी-सी।
मीठी लगें बतिया मुख सीठी, यों सौतिन के उर में दपटी-सी ।।
अंगहू राग बिना अंग-अंग, झकोरें सुगंधन की झपटी-सी।
प्यारी तिहारी ये एड़ी लसै, बिन जावक पावक की लपटी-सी ।।"

इसी प्रकार विरोधाभास नामक अलंकार को देखिए—

"कातिक की राति पूनो इन्दु परगास दूनो,
आस-पास पावस अमावस खगी रहै।
ग्रीषम की ऊषमा, मयूख मान कीनी, मुख-
देखे सनमुख निसि-सिसिर लगी रहै ।।
बरसै जुन्हाई सुधा-बसुधा सहस धार-
कौमुदी न सूखे ज्यों-ज्यों जामिनी जगी रहै।
दोऊ पच्छ उज्ज्वल बिराजें राजहंसी देव,
स्याम रंग-रंगी जगमगी उमगी रहै।"

इस प्रकार देव अपने अभिव्यंजना-कौशल एवं उसके प्रसाधन में बड़े ही क्षम और दक्ष सिद्ध होते हैं।

भाषा

ब्रजभाषा की पूर्व-स्थिति

रीतिकालीन शृंगारी कविता की सामान्य समीक्षा प्रस्तुत करते हुए ब्रजभाषा का विवेचन उक्त संदर्भ में किया जा चुका है। किसी कवि-विशेष की भाषा का अध्ययन करने के लिए यह प्राय: आवश्यक होता है कि हम उसकी पूर्वगत भाषा-प्रवृत्तियों को कुछ-न-कुछ

अवश्य जान लें। इससे भाषा में स्थिति अथवा काल के नाते जो अन्तर आ पड़ते हैं वे स्पष्ट हो जाते हैं जिन्हें लक्ष्यकर हम कवि विशेष की भाषागत प्रवृत्तियों एवं प्रयोगों की समालोचना बड़ी सरलता से प्रस्तुत कर सकते हैं। कहना न होगा कि देव से पूर्व सूर, तुलसी, मीरा, हितहरिवंश, नन्ददास, बिहारी और मतिराम-जैसे भाषा-रत्न-पारखी एवं व्यापक प्रतिष्ठावाले कवि हो गये थे जिन्होंने ब्रजभाषा को अपने अनूठे भावों का समर्थ वाहक बनाकर उसे इतना पूर्ण-पुष्ट, समृद्ध-सरस, व्यापक तथा सामर्थ्यशालिनी बनाया कि उसकी अबाध अजस्रधारा आगामी अनेक शताब्दियों तक स्वच्छन्द रूप से प्रवाहित होती रही, जिसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि वह ब्रजबोली से ब्रजभाषा बन गयी। इस प्रकार इन कवियों ने ब्रजभाषा के विकास-विवर्धन में एक अकल्पनीय योग दिया। देव को वरासत-रूप में जो ब्रजभाषा मिली उसका रूप बहुत-कुछ साहित्यिक था। इसी ओर संकेत करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है—"सूर ने उसकी निखिल शक्तियों का विकास कर उसको अत्यन्त व्यापक बना दिया था। हितहरिवंश और नन्ददास ने उसकी पद-योजना को संस्कृत की शब्द-मणियों से जड़ दिया था। देव ने अपने उत्तराधिकार का पूर्णतया सदुपयोग करते हुए उसको और भी समृद्ध किया।"[१]

देव की भाषा

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि देव की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है। कवि की भाषा का कोश बड़ा व्यापक, समृद्ध और पूर्ण था। चूँकि कवि संस्कृत भाषा का पंडित था इस कारण उसकी भाषा में संस्कृत-शब्दों की भरमार मिलेगी। कहीं-कहीं उसकी भाषा का यह संस्कृतनिष्ठ रूप बहुत उभर कर सामने आता है। लगभग सभी रीतिकवि (विशेषतया रीतिबद्ध) संस्कृत के काव्यशसात्र से सीधा सम्बन्ध रखते थे। इस कारण उनकी भाषा में संस्कृत शब्दावली का पाया जाना स्वाभाविक-सी चीज है। वैसे संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग ब्रजभाषा की प्रकृति के विरुद्ध था इस कारण उक्त भाषा के तत्सम शब्दों को रीतिकवियों ने तद्भव रूप में ही प्रयुक्त किया है। केशव को छोड़कर सभी रीतिकवियों ने यही किया है। चूँकि केशव का उद्देश्य पाण्डित्य-प्रदर्शन था इस कारण उन्होंने संस्कृत-शब्दावली को तद्वत् अपना लिया। इस दृष्टि से देव की भाषा में एक समन्वयवादिता मिलती है। उनके ऐसा करने का उद्देश्य भावाभिव्यक्ति की स्वच्छता और भाषा-कोश-संवर्धन था। परन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिए कि संस्कृत के ऐसे तत्सम शब्द जो ब्रजभाषा की माधुरी एवं सौष्ठव को नष्ट करते हैं उनके प्रयोग देव की भाषा में बहुत कम देखने में आते हैं। देवताओं की बन्दना आदि में भाषा का संस्कृत बहुला रूप दिखाई पड़ता है।

देव और उनकी कविता-पृ० २०४।

संस्कृत-तत्सम शब्दावली

जय-जय भगवंत रूपी महारक्ष
भारायमान क्षितिमार संभारहत,
कमलनयन केशव स्वामि, कंसारि,
वंसावतंस, स्फुरद्रूप गोपाल भूपाल भृत;
करुनानिलय कोटि कंदर्प हारी,
महा सुन्दर स्याम मूर्ति छवि व्रीडन।
व्रजिन हरन राज राजेन्द्र देवेन्द्र,
दुःखापहोमेन्द्र बृन्द्राबना क्रीड़ संक्रीड़नं॥

किन्तु स्तुति-बन्दनाओं के पीछे संस्कृत की शब्दावली की एक परम्परा चली आ रही थी जो हिन्दी के आदिकालीन साहित्य से लेकर आगे रीतिकाल तक चलती चली आ रही थी। कहना न होगा कि कवि की यह अपनी स्वाभाविक भाषा नहीं है। प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के भी शब्दों के प्रयोग देव की भाषा में मिलते हैं। किन्तु इनकी संख्या नहीं के बराबर है। इसके अतिरिक्त अरबी और फारसी-जैसी विदेशी भाषाओं का तब तक हमारे ऊपर काफी असर पड़ गया था। उनके अधिकांश शब्दों को हमने अपने जीवन में उतार लिया था। इस कारण इन विदेशी भाषाओं के शब्द-प्रयोग हमें न्यूनाधिक मात्रा में लगभग समस्त कवियों में मिलते हैं। यहाँ तक हिन्दी के आदि काल से इस विदेशी मेल का प्रारम्भ होता है और तबसे इस मेल का विकास ही होता चला आ रहा है। आज भी बोल-चाल अथवा व्यावहारिक भाषा में इन विदेशी शब्दों के माध्यम से हम अधिकांश भाव प्रकाशन करते हैं। रीतिकालीन कवियों में भूषण और बिहारी की भाषा में इसका रंग अन्यों की अपेक्षा बहुत चटक है। देव की कविता में प्रथमत: तो ऐसे प्रयोगों का बाहुल्य नहीं है और दूसरे जहाँ कहीं ऐसे प्रयोग किये भी गये हैं उनमें उन्हीं विदेशी शब्दों को अधिक स्थान मिला है जो तत्कालीन व्यावहारिक-जीवन में अन्तर्भुक्त कर लिए गये थे।

बिदेशीमेल

"ऐसो कौन आज जाको सोहत समाज जहाँ,
सबको सुकाज साहिबी को सुख साज है।
'देव' गुणमंत संत सामंत समाज राज-
काज को जहाज दिल-दरिया-दराज है।
जापै इतराज ता गनीम सिर गाज बग-
बैरिन पै बाज सैदबंश सिरताज है।

सानी सुरराज जो पिहानी-पुर राज करै,
महो मैं जहाज महमदी महराज है।"

यह पिहानी-निवासी श्री अकबर अली की प्रशंसा में लिखा गया है जिसमें उसको प्रसन्न करने के उद्देश्य से विदेशी शब्दों का प्रयोग कर वैसा ही वातावरण उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है। इस कारण यह भी देव की सहज भाषा का नमूना नहीं है।

इसके अतिरिक्त अन्य क्षेत्रीय अथवा विभिन्न बोलियों के शब्दों को देव ने अपनाया है जिनका अधिकांश प्रयोग उनके पूर्व-कवियों द्वारा किया जा चुका था। नये शब्दों में उसने बहुत कम हाथ लगाया है। हाँ, एक बात जरूर है कि अपनी जरूरत के समय कवि संस्कृत और हिन्दी दोनों के शब्दों को अपनाता है और उनको इच्छानुकूल इतना तोड़-मरोड़ डालता है कि उन्हें देखकर हम उनके मूल रूपों की जानकारी के अभाव से चौंक-से उठते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल शब्द-विकार के इस व्यापार में भूषण और देव को समान ही मानते हैं। वास्तव में देव शब्द विकृत करने की क्रिया में इतने स्वच्छन्द और निर्भय हैं कि कभी-कभी तो ऐसे विकृत शब्द-रूप एक दम नये ही ज्ञात होते हैं। ऐसा कवि तुकांतता, यमक और अनुप्रास आदि के मोह में पड़कर करता है। दो-एक उदाहरण लीजिये :—

(१) भूख न भोजन की कछु ईछी।
(२) तौलियत मानिक तें तुला सों हिरन के।

रेखांकित शब्दों पर ध्यान दीजिये। 'ईछी' इच्छा और 'हिरन' हिराय के अर्थ में तोड़कर प्रयुक्त किया गया है। शब्दों के तोड़ने में भी एक ऐसी नियमावली का पालन करना होता है जिससे उसका मूल रूप सुरक्षित रहे—तोड़ने अथवा विकृत करने का यह अर्थ नहीं कि हम जितनी निरंकुशता और स्वच्छन्दता चाहें बर्तें। देव ने यहाँ यही किया। इसीलिए लाला भगवान दीन ने देव-विहारी और विहारी—देव नामक चलने वाली उस साहित्यिक अखाड़ेबाजी में देव की भाषागत त्रुटियों को विधिवत् दिखाया है जो बहुत दूर तक सही और औचित्यपूर्ण भी हैं। इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण देव की रचनाओं से दिये जा सकते हैं जिनमें कवि ने शब्दों के साथ यह खिलवाड़ किया है। कुछ शब्द तो ऐसे हैं जिनका कोई अर्थ ही नहीं लगता—यथा; घील, तीभ, वसीकने, गमारयो, तरावक, सीजी, आदि।

भाषा-सौष्ठव

प्रायः भाव से भावाभिव्यंजन को अधिक महत्व दिया है सभी रीतिकालीन कवियों ने। इस कारण अपने अभिव्यक्ति-पक्ष को सबल और समर्थ बनाने के लिये उन्होंने अलंकार, गुण, वृत्ति आदि को सामने रखकर उसको माँजा-सँवारा। इसी कारण, खासकर रीतिकाल

में भाषा को सँवारने, सजाने और रसानुकूल बनाने का जितना महत्वपूर्ण प्रयत्न किया गया उतना और किसी काल में नहीं। इसीलिए ब्रजभाषा पूरे उत्तरापथ के अतिरिक्त अन्य सुदूरवर्ती-प्रदेशों में भी भावों की वाहिका बनी और इस प्रकार काव्य-सृजन के माध्यम के रूप में अपनायी गयी। कवियों ने ब्रजभाषा की पद-योजना और उसकी सभी कलात्मक माँगों के अनुसार उसकी पूर्ति की। देव की कविता से कलात्मक पद-योजना का एक उदाहरण देखिए :—

मोहि मोहि मोहन को मन भयो राधामय,
राधा-मन मोहि मोहि मोहन मई भई।"

इन शब्दावृत्तियों से भाषा में एक विशेष प्रकार का प्रवाह एवं गतिमयता आ जाती है—जो सुनने में भी अधिक श्रवण-सुखद मालूम पड़ती है। देव की अनुप्रास-सहित पद-योजना सुनने में बड़ी मधुर और सुखद मालूम होती हैं। एक अन्य उदाहरण देखिये :-

"रीझि-रीझि रहँसि-रहँसि हँसि-हँसि उठै,
साँसै भरि आँसू भरि कहत दई-दई।"

उपर्युक्त दोनों ही उदाहरणों के भाषा-सौष्ठव को खोलते हुए डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है—"पहले चरण की वीप्साओं में 'रीझि-रीझि' 'रहँसि-रहँसि' 'हँसि-हँसि' की आवृति तो स्पष्ट है। 'रहँसि' और हंसि में 'हँसि' की और 'साँसै भरि' तथा 'आँसू भरि' में 'आँसूभरि' आवृत्ति कुछ सूक्ष्म है। इसी प्रकार अन्तिम चरण 'मोहि-मोहि' की स्पष्ट आवृत्ति में मोहन के मोह की आवृत्ति सूक्ष रूप से अनुस्यूत है तथा 'राधामय' और 'राधामन' में राधा के साथ 'म, की भी आवृत्ति है। वीप्सागत ये आवृत्तियाँ शब्दों को आगे ढुलकाती हुयी भाषा में एक विशेष गति पैदा कर देती हैं। उधर पहले चरण में 'र' 'ह' (झ में भी ह वर्तमान है) और स व्यंजनों के साथ-साथ इ स्वर का (जो ई और ऐ में भी सूक्ष्म रूप से वर्तमान हैं) साम्य और अन्तिम चरण में 'म', ह और न व्यंजनों के साथ 'इ' और ओ स्वरों का साम्य एक कोमल सस्वरता को जन्म देता है।"

एक इसी प्रकार का अन्य उदाहरण लीजिए, जिसमें वृत्त्यनुप्रास और छेकानुप्रास दोनों की अद्भुत मिलावट है—

बारि की बूंद चुवै चिलकैं अलकैं, छबि की छलकैं उछली-सी
अंचल झीने झकैं झलकैं, पुलकैं कुच-कन्द कदम्ब कली-सी।

देव अनुप्रास-प्रयोग की दृष्टि से बड़े सम्पन्न थे। उसमें उनकी गहरी पैंठ थी। एक ऐसा उत्कृष्ट छन्द नीचे दिया जा रहा जिसे पं० कृष्ण बिहारी जी ने 'देव और बिहारी' नामक ग्रन्थ में देव की भाषा के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में दिया है।[1]

१. पृ० २३५ पंचमावृत्ति।

"पीछे परबीनै बीनै संग की सहेली, आगे
भार-डर भूषन डगर डारै छोरि; छोरि,
मोरै मुख मोरनि, त्यों चौंकत चकोरनि, त्यों
भौरनि की ओर भीरु देखै मुख मोरि-मोरि।
एक कर आली-कर-ऊपर ही धरे, हरे-
हरे पग धरै, 'देव' चलै चित चोरि-चोरि,
दूजे हाथ साथ लै सुनावति बचन, राज-
हंसन चुनावति मुकुत-माल तोरि-तोरि।

"पीछे परबीनै, परबीनै बीनै, संग की सहेली, भार भूषन, डर डगर डारै, छोरि-छोरि, मोर मुख मोरनि, मोरनि चकोरनि, भौरनि चौंकत चकोरनि, भौरनि भीरु, मुख मोरि-मोरि, ही हरे-हरे, धरे धरै, चलै चित चोरि-चोरि, हाथ साथ, सुनावति, चुनावति, मुकुत-माल, तोरि-तोरि आदि में अनुप्रास का व्यास जैसा विकास-पूर्ण है, वैसा ही उसका न्यास भी अनायास वचन-विलास-वर्धक है।"

देव ने यमक के चमत्कारी प्रयोग भी कई स्थलों पर किये हैं किन्तु हैं ऐसे प्रयोग बहुत कम ही।

ध्वन्यात्मकता :—समर्थ और कला-निष्णात् कवि की शब्द-योजना इतनी मुखर होती है कि वह ध्वनि मात्र से ही अपना अर्थ स्पष्ट कर देती है। ध्वन्यात्मकता ऐसी ही शब्द-योजना पर आधारित होती है। पश्चिमी साहित्य-शास्त्रियों ने इसे स्वतंत्र अलंकार-रूप में प्रतिष्ठित किया है और भाषा का एक आवश्यक गुण माना है। वैसे भारतीय दृष्टि से हम इसको आनुप्रास के अन्तर्गत ही मानते हैं। भाषा का यह गुण आरंभिक हिन्दी कविता से लेकर अधुनिक खड़ीबोली की कविताओं तक में अधिकता से मिलेगा। देव की भाषा में अर्थ-ध्वनन की प्रतिष्ठा बड़े ही सुन्दर रूप में हुयी है। एक उत्कृष्ठ उदाहरण देखिए :—

सहर-सहर सोंधो सीतल समीर डोलै,
घहर-घहर घन घेरि कै घहरिया।
झहर-झहर झुकि झीनी झरि लायो 'देव'
छहर-छहर छोटी बूंदन छहरिया।
हहर-हहर हँसि-हँसि के हिडोरें चढ़ी,
थहर-थहर तनु कोमल थहरिया।

फहर-फहर होत पीतम को पति-पट,
लहर-लहर होत प्यारी की लहरिया।

"इस छन्द के शब्दों से ही वायु का मन्द संचरण, बादलों का घहराना, वर्षा की झड़ी का झर-झर शब्द, छोटी-छोटी बूँदों का छहराना, अपेक्षाकृत भारी पीत पट फहराने आदि का बोध हो जाता है।

लाक्षणिकता

वैसे जैसा कि पहले हम देख चुके हैं कि देव शब्द की तीन शक्तियों-अभिधा, लक्षणा और व्यंजना-में से अभिधा को प्रधानता देते हैं किन्तु भाषा-प्रयोग में यह बात नहीं रही। जिस प्रकार भावों को काव्य का मूल मानते हुए वह उसके प्रयोगों में कलात्मक हो गया उसी प्रकार अभिधा को मानते हुए भी उसने लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का भाषा-शक्ति के संवर्धन के लिए प्रयोग किया है।

लाक्षणिकता से भाषा की अभिव्यक्ति में एक ऐसी विलक्षणता आती है जिससे अभीष्ट अर्थ के द्योतन के साथ-साथ एक मनोहारी प्रभाव भी हमारे ऊपर पड़ता है। देव में भी ऐसे अनेक उत्कृष्ट उदाहरण पाये जाते हैं। डॉ० नगेन्द्र ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उदाहरणों को लिया है :—

१ पावस ते उठि कीजिए चैत अमावस ते उठि कीजिये पूनो।

२ विछियान की 'जीभें न लागती हैं।'

३ छैल छुओ जनि छाती अछूती।

उक्त काव्य की रेखांकित पक्तियों के लाक्षणिक शब्द-प्रयोगों को ध्यान से पढ़िये और सोचिये। प्रथम उदाहरण में, वास्तव में किसी शब्द विशेष में लक्षण की स्थिति न होकर पूरी पंक्ति के अर्थ में है। कोई भी मनुष्य अपने महान् से महान् प्रयत्नों के बल पर पावस (वर्षा) को चैत और अमावस्या को पूर्णिमा में नहीं परिणत कर सकता, क्योंकि ये प्रकृतिगत नियम हैं। किंतु तब क्या यह वाक्य निरर्थक लिखा कवि ने ? वास्तव में इसका अर्थ नायिका के शब्दों में यह होगा कि तुम्हारे (नायक) मिल जाने से मेरी कष्टदायिनी स्थिति जो तुलना में पावस (अश्रु धारा की ओर संकेत) और अमावस (प्रगाढ़ दुःख) की भाँति है वह चैत (वासन्ती-सुख, उत्तम सुख) और पूर्णिमा (आनन्द अथवा प्रसन्नता की जगमगाहट) में बदल जायगी।

इसी प्रकार दूसरे उदाहरण के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि बिछिया (पैर में पहनने का एक आभूषण विशेष) कोई व्यक्ति नहीं है कि जिसमें जीभ की कल्पना की जाय किन्तु कवि ने उसका मानवीकरण करके ऐसी कल्पना की है। वास्तव में 'जीभ के न लगने' से कवि का तात्पर्य है बिछुआ के अत्यधिक मुखर होने से। वाक्य में

दो प्रयोग दर्शनीय हैं—प्रथम बिछुवा में जीभ की कल्पना करना और दूसरे 'लागती' शब्द-प्रयोग। 'लागति' मुहावरे के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यह प्रयोग लगभग वैसा ही है जैसा कि 'आँख लगने' में 'लगने' शब्द का हुआ है।

तीसरे उदाहरणके 'अछूती' शब्द में भी यही बात है। वह छुयी तो अवश्य गई है, यह दूसरी बात है कि एक विशिष्ट अर्थ में चाहे न छू गयी हो।

व्यंजनात्मकता

भाषा की व्यंजनात्मकता उसे सर्वाधिक समृद्ध-सम्पन्न और वैदग्ध्यपूर्ण बनाती है। प्रायः ऐसे कवियों को व्यंजनात्मकता के लिए वहाँ सुअवसर प्राप्त हुआ है जहाँ रीतिकालीन कवि खण्डिता के माध्यम से नायकों की चर्चा कराते हैं। वास्तव में इस प्रसंग को लेकर जो उत्कृष्ट, पैनी और सरसता-वर्धक व्यंजनात्मकता मिलती है वह बड़ी प्रभावक, आह्लादक और हृदयहारिणी होती है। इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण देखिए :—

"साँझ शशि ह्वै कै हँसि विहँसि कुमुदिनी सों,
रहे चलि नीके नलिनी के उर-शूल ते।
शिशिर मयंक सों ससंक पंकजिनी जानि,
रजनी गमाई भले मानी गई भूल ते।
कीनी निहिचिंत हौं दुरंत चित चिंता मेटी,
'देव' सेवकनि के सदा ही अनुकूल ते।
लाल लाल अम्बर उदित बाल भानु हेरि,
भोर बिनु लोइन कमल कैसे फूल ते ?"

"यहाँ खण्डित नायिका का अभिप्रेत अर्थ तो यह है कि तुम बड़े कपटी और कठोर हो। रात्रिभर तुमने तो दूसरी स्त्री के साथ रमण कर उसे सुख दिया, अब प्रातःकाल लाल आँखें लिए हुए मुझे दुःखी करने आये हो। परन्तु वह बात को साधती हुयी दूसरे प्रकार से कहती है—" आप अपनी सेविकाओं के प्रातः बड़े अनुकूल हैं। रात्रि में आपने शशिरूप धारण कर उस कुमुदिनी (दूसरी नायिका) को स्नेह-शीतल किया और अब प्रातःकाल बाल रवि का रूप धारण कर मेरे लोचन कमलों को खिलाने आए हो। "लक्षणा से चन्द्रमा से शीतल करने का और बाल रवि से संतप्त करने वाले लाल नेत्रों का भाव व्यप्त किया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि लक्षणा से पुष्ट व्यंजना का यह प्रयोग अत्यन्त भावगम्य और कल्पना-प्रचुर है।"[1]

इस प्रकार के अनेक उद्धरण देव की कविता से पेश किये जा सकते हैं।

---

१ देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र पृ० २२७।

उक्ति-वैचित्र्य

उक्ति-वैचित्र्य का अर्थ है, कथन की विचित्रता (चमत्कार)। अनुभूति की सघनता हमें प्रेरित करती रही है कि हम अभिव्यक्ति के लिए नित-नूतन मार्ग की खोज करें। भाव-प्रकाशन के अन्य साधनों के होते हुए भी कवियों अथवा साहित्यकारों ने उक्ति-वैचित्र्य-जैसे भावाभिव्यक्ति के साधन को खोज निकाला। कहना चाहिए कि एक प्रकार का चमत्कारी प्रभाव—जिसे 'वैदग्ध्य-भंगी-भणिति' कहा गया है—डालने के लिए कवि उक्ति-वैचित्र्य की सृष्टि करता है। यह वैचित्र्य कई प्रकार का होता है—विरोधमूलक, साम्यमूलक एवं वैषम्यमूलक आदि। समस्त रीतिकालीन कवियों ने इसका पल्ला पकड़ा है।

कतिपय उदाहरण

(१) "मोच पंचबान को, असोच अभिमान को, ये सोच पति-प्रान को, संकोच सखियान को ।।"

(२) जोग हूते कठिन संजोग पर-नारी को।

(३) पैये असीस लचैये जु सीस लची रहिए तबै ऊँची कहैये।

(४) कुलकानि की गाँठिते छूट्यो हियो, हियते कुल कानि की गाँठि छुटी।

(५) बानी को सार सिंगार बखान सिंगार को सार किसोर-किसोरी।

मुहावरे एवं कहावतों का प्रयोग

अधिक दिनों से जनता की वाणी में सुरक्षित चले आते हुए कहावत और मुहावरे भावाभिव्यक्ति को बड़ा बल प्रदान करते रहे हैं। विचित्र, जटिल और सघन अनुभूतियों को बड़ी सरलता से व्यक्त करने के शायद ये सबसे उत्तम माध्यम सिद्ध होते हैं। इनका रूप बहुत कुछ जन-प्रचलित और व्यावहारिक होता है। ये भाषा में स्वाभाविकता, सहजता, विविधता और सरसता लाते हैं जिसके कारण वह अपेक्षाकृत बोधगम्य हो उठती है। सारे रीतिकालीन कवियों की भाषा में न्यूनाधिक रूप में भाषा का यह रूप सुरक्षित है। देव ने भी कहावतों और मुहावरों का प्रयोग किया है।

कतिपय उदाहरण

(१) किन्हीं अनाकनि यों मुख मोरि पै जोरि भुजा हिय भेंटत ही बन्यो।

(२) सावरो रूप पियो अँखियान भर्‌यो सु भर्‌यो उबरयो सु ढरयो परे।

(३) जोबन आयो न पाप लग्यो कवि देव रहे गुरु लोग रिसोहैं।

(४) चाह भई फिरौं या चित मेरे की छाँह भई फिरौं नाह के पीछे।

रेखांकित पदों से मुहावरे एवं कहावतों का रूप स्पष्ट है।

व्याकरणिक रूप

व्याकरण के सभी अंगों को लेकर देव की भाषा को तौलने लिए यहां स्थान नहीं। इस सम्बन्ध में देव-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान डॉ० नगेन्द्र के निष्कर्षों को उद्धृत किया जा रहा है।

"व्याकरण की दृष्टि से भी देव की भाषा अत्यन्त सदोष है। उन्होंने स्थान-स्थान पर उसके नियमों का उल्लंघन किया और इसके मूल में भी वही तुक, अनुप्रास और यमक का मोह है। इसी मोह में पड़कर वे लिंग-संबंधी दोष, कारक-चिह्नों तथा क्रिया रूपों की गड़बड़, वाक्य-विन्यास का शैथिल्य आदि अनेक व्याकरण दोषों के दोषी हुए हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वे व्याकरण के नियमों से अनभिज्ञ थे अथवा शुद्ध भाषा लिखने में ही असमर्थ थे। जहां उन्होंने थोड़े भी संयम से काम लिया है, वहां उनकी भाषा बिलकुल शुद्ध और व्याकरण-सम्मत मिलती है।"

(१) "देव की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा ही है। उसे पूर्णतः शुद्ध ब्रजभाषा जिस अर्थ में कि रसखान और घनानन्द की भाषा है, नहीं कहा जा सकता। परन्तु उनकी मातृ-भाषा लगभग ब्रजभाषा ही होने के कारण उसमें अवधी, राजस्थानी आदि का मिश्रण अपेक्षाकृत बहुत कम है।

(२) "व्याकरण की दृष्टि से देव की भाषा केशव और भूषण को छोड़कर अन्य समर्थ कवियों की अपेक्षा अधिक सदोष है। उनमें व्याकरण के प्रायः सभी प्रमुख दोष मिलते हैं। वाक्य दोषों की प्रचुरता के कारण उनकी भाषा स्थान-स्थान पर अर्थ-व्यक्ति एवं प्रसाद गुण खो बैठती है, जिससे उसकी स्वच्छता नष्ट हो जाती है। मतिराम, बेनी प्रवीन, घनानन्द आदि के साथ तुलना करने पर स्वच्छता के इस अभाव का अनुमान लगा सकते हैं।

(३) "परन्तु इसका कारण, जैसा कि मैंने पहले कहा है यह है कि देव का ध्यान भाषा के सौष्ठव और समृद्धि पर इतना अधिक रहा है कि वे उसके स्वरूप की स्वच्छता और शुद्धता की भी उपेक्षा कर बैठे हैं।"[1]

देव की भाषा के सम्बन्ध में कतिपय मत

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत

"कभी-कभी वे कुछ बड़े और पेचीले मजमून का हौसला बांधते थे पर अनुप्रास के आडम्बर की रुचि बीच ही में उसका अंग-भंग करके सारे पद्य को कीचड़ में फँसा छकड़ा बना देती थी। भाषा में कहीं-कहीं स्निग्ध प्रवाह न आने का एक कारण यह भी था।

१ देव और उनकी कविता—पृ० २२०।

अधिकतर इनकी भाषा में प्रवाह पाया जाता है। कहीं-कहीं शब्द-व्यय बहुत अधिक है और अर्थ अल्प।

अक्षर-मैत्री के ध्यान से इन्हें कहीं-कहीं अशक्त शब्द रखने पड़ते थे जो कभी-कभी अर्थ को आच्छन्न करते थे। तुकांत और अनुप्रास के लिए ये कहीं-कहीं शब्दों को ही तोड़ते-मरोड़ते न थे, वाक्य को भी अविन्यस्त कर देते थे। जहाँ अभिप्रेत भाव का निर्वाह पूरी तरह हो पाया है, या जहाँ उसमें कम बाधा पड़ी है, वहाँ की रचना बहुत ही सरस हुयी है। इनका सा अर्थ-सौष्ठव और नवोन्मेष विरले ही कवियों में मिलता है।"[1]

आचार्य डॉ० नगेन्द्र का मत

"परन्तु जहाँ तक भाषा की श्री समृद्धि का सम्बन्ध है ब्रजभाषा के अनेक कवि उनकी समता नहीं कर सकते। उन्होंने ब्रजभाषा के माधुर्य और संगीत की अपूर्व श्री-वृद्धि की है; औज्ज्वल्य और कांति आदि गुणों से अलंकृत किया है तथा उसकी शक्तियों का संवर्धन किया है। और इस प्रकार ब्रजभाषा की पूर्ण समृद्धि का श्रेय निस्संदेह ही उनको दिया जा सकता है।"[2]

छन्द-योजना

देव ने भूषण, मतिराम तथा अन्य अपने पूर्ववर्ती रीतिकालीन कवियों की भाँति ही सवैया और घनाक्षरी जैसे वर्णिक छन्दों को अपनाया है। इन छन्दों के विकास तथा इनकी शास्त्रीय स्थिति आदि के संबंध में रीतिकाल के सामान्य विवेचन के अंतर्गत मैं विस्तार से विचार कर चुका हूँ; अतएव यहाँ केवल इतना ही देखने का प्रयास करेंगे कि देव ने इन छंदों का कैसा प्रयोग किया है।

देव इन छंदों को अपनाकर इनके सौष्ठव एवं विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है। सवैया का बहुत ही सुष्ठु और सुन्दर प्रयोग इस कवि ने किया है। मत्तगयंद सवैया का एक उदाहरण देखिए —

मूरति जो मन मोहन की मन मोहनि के थिर ह्वै थिरकी-सी।
'देव' गोपाल के बोल सुने छतियाँ सियराति सुधा-छिरकी-सी।
नीके झरोखे ह्वै झाँकि सकै नहिं नैनन लाज घटा घिरकी-सी।
पूरन प्रीति हिये हिरकी, खिरकी खिरकीन फिरै फिरकी-सी॥

उक्त छंद में अक्षर-मैत्री इतनी सुन्दर और विराम इतने व्यवस्थित हैं कि पढ़ने पर एक अपूर्व संगीत की सृष्टि होती है।

सवैया के विभिन्न रूपों का बड़ा ही अद्भुत और अनोखा प्रयोग देव ने किया है। जैसा कि डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है कि देव ने ११ प्रकार के सवैये का प्रयोग बड़ी सफलता-पूर्वक किया है।

१ हिन्दी-साहित्य का इतिहास—पंचम सं० २६६-६७।
२ देव और उनकी कविता—पृ० २३२।

घनआनंद

नाम

कवि ने अपने नाम के विविध रूपों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। चूँकि कवि की शैली लाक्षणिक थी अतः उसने 'घनआनंद' शब्द-प्रयोग के समय उसकी व्युत्पत्ति पर बहुत अधिक ध्यान दिया है। व्यक्तिवाचक संज्ञायें, प्रायः यह देखा जाता है कि, व्याकरण की दृष्टि से बहुत सार्थक नहीं हुआ करतीं। इसीलिये जहाँ कवि को काव्य में रमणीय अर्थ की सृष्टि करनी होती है वहाँ वे किसी व्यक्तिवाचक संज्ञा के स्थान पर भी उसके पर्यायवाची शब्द रखकर अपने अभीष्ट की सिद्धि करते हैं। 'हिरण्याक्ष' के लिये 'हाटकलोचन' का प्रयोग इसी तरह का है। हिन्दी कवियों में तुलसीदास ने ऐसे प्रयोग किये हैं।

घनआनंद ने भी अपने कई नामों को उक्त पद्धति पर प्रयोग किया है। आनंदघन, अनंदघन, आनँद के घन, आनंदपयोद, आनंदनिधान, सच्चिदानंदघन, आनंदमेह, घन-आनंद, आनंद के अम्बुद आदि २२ नाम पर्याय के रूप में, जिनका उद्देश्य प्रवाह-प्राप्त अर्थ में रमणीयता उत्पन्न करना होता है, पाये जाते हैं। कवित्तों में प्रायः घनआनंद संज्ञा की बहुलता है। सवैयों में भी घनआनंद रूप प्रायः प्रयुक्त हुआ है। इन विभिन्न नाम-प्रयोगों से कवि का दृष्टिकोण अपने नाम का एकार्थ व्यक्त करने का है या अनेकार्थ, ठीक से ज्ञात नहीं होता। जैसा कि कहा गया है कि कवि ने अपने नामार्थ को दो मुख्य अर्थों में प्रयुक्त किया है—[1]

(१) 'आनंद को बरसाने वाले बादल" और

(२) घनीभूत आनंदस्वरूप या 'घनीभूत आनंदवाला'।"

इन विभिन्न नामों की तालिका को देखते हुये यह कहना कठिन हो जाता है कि उस (कवि) का वास्तविक नाम क्या था। विभिन्न विद्वानों ने इस नाम-प्रयोग के सम्बन्ध में अपने नाना मत प्रकट किये हैं। शिवसिंह, मिश्रबन्धु और डॉ० ग्रियर्सन ने 'आनंदघन' की संज्ञा स्वीकार की है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इसके विपरीत 'घन-आनंद' माना है।

---

१ घनानंद और स्वच्छंद काव्यधारा डा० मनोहरलाल गौड़ पृ० २८-२९ प्रथमावृत्ति।

शम्भु प्रसाद बहुगुना की संभावना के अनुसार इनका नाम 'आनंद' मात्र था। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'घनआनंद' नाम ही स्वीकार किया है। मेरे विचार से भी घनआनंद नाम अधिक युक्तियुक्त है।

जीवनवृत

'साक्षात् रसमूर्ति' ब्रजभाषा के महाकवि घनआनंद का जन्म सं० १७४६ वि० में हुआ था। इनकी मृत्यु सं० १७९६ वि० में नादिरशाही आक्रमण में हुई थी। ये जाति के कायथ और दिल्ली के सम्राट मुहम्मदशाह रंगीले के मीरमुन्शी थे। कहा जाता है कि एक दिन बादशाह के सभासदों ने बादशाह से यह अर्ज किया कि ये गानविद्या में इतने निपुण हैं कि बरवश हृदय आकृष्ट कर लेते हैं। 'रंगीले' नामधारी मुहम्मदशाह के हृदय में इस कथन की बड़ी सरस प्रतिक्रिया हुई। इच्छुक हो बादशाह ने घनआनंद से गाने के लिये आग्रह किया किन्तु आत्माभिमानी कवि ने ऐसा नहीं किया। जब यह बात दरबारियों के कानों में पड़ी तब उन्होंने पुन: बादशाह को कोंचते हुये कहा—वह ऐसे गाने वाला नहीं, उसे उसकी प्रेमिका सुजान के माध्यम से कहलवाइये। वह बुलायी गई और आज्ञा दे दी गयी कि घनआनंद से गाने के लिये कहे। सुजान के कथन मात्र से रससिक्त हो प्रेमी कवि घनआनंद ने ऐसा गाया कि बादशाह आनंदमग्न हो झूम उठा, किन्तु गाते समय कवि ने बादशाह की ओर पीठ और सुजान की ओर मुख कर लिया था। बाद में कवि की इस बेअदबी से बादशाह इतना नाराज हुआ कि उसे देश-निष्काशन का दण्ड दे दिया। विवश और दु:खी हो कवि ने दिल्ली छोड़ दिया। वहाँ से जाते समय कवि को यह पूरी आशा थी कि सुजान मेरे प्रेम का आदर कर मेरे साथ अवश्य चलेगी, किन्तु अभागे कवि को इसका उल्टा परिणाम भोगना पड़ा। सुजान उसके साथ नहीं गई। जीवन-भर उसके लिये वह तड़पता रहा। यदि इस कहानी को किसी अंश तक भी सत्य माना जाये तो कहना न होगा कि इस घटना ने कवि के हृदय को इतना मर्माहत किया कि जीवन भर वह उसके विरह के अनुभूति सिद्ध गीत गाता रहा। कवि की इसी घनीभूत वेदना का यह परिणाम था कि जीवन-भर वह प्रकृति सिद्ध भावों का गान करता रहा। अन्त में कवि वृन्दाबन चला गया। कवि की यह एक विरक्तिपूर्ण मानसिक अवस्था थी जो बाद में राधाकृष्ण की भक्ति में परिणत हो गई। मन की सारी स्थितियों के बदल जाने के पश्चात् भी सुजान को वह नहीं भूल पाया।[1] राधाकृष्ण की स्मृति को उसने सुजान की स्मृति के रूप में ढाल लिया। घनआनंद की रचनाओं को पढ़ने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि 'सुजान' शब्द से उसे बेहद मोह था जिसे वह संबल रूप में सदैव साथ लिये रहा।

१—चाहत चलन ये संदेशो लै सुजान को।

इस जनश्रुति को लेकर गोस्वामी राधाचरण ने निम्नलिखित छन्द लिखा है :-

"दिल्लीस्वर नृप निमित एक धुरपद नहिं गायौ।
पै निज प्यारी-कहे सभा कों रीझि रिझायौ॥
कुपित होय नृप दिय निकासि बृन्दाबन आये।
परम सुजान 'सुजान' छाप पद कवित बनाये॥
नादिरशाही ब्रज-रज मिले, किये न नैंकु उचाट मन।
हरि-भक्ति-वेलि, सिंचन करी, घन आनँद आनँद-घन॥"

इसी का समर्थन एक पद्य में वियोगी हरि जी ने भी किया है।[1]

ऐतिहासिकता

इतिहास-ग्रंथों का अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मथुरा पर नादिरशाह का अक्रमण नहीं हुआ था। वहां तो अहमदशाह अब्दाली अथवा दुर्रानी के आक्रमण का होना उचित प्रतीत होता है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने पूर्ण रूप से यह स्वीकारा है कि घनआनंद के समय में अहमदशाह अब्दाली अथवा दुर्रानी का ही आक्रमण हुआ था, नादिरशाह का नहीं। उनका कहना है कि संवत् १७९६ में नादिरशाह का आक्रमण हुआ था जब कि घनआनंद की रचनायें सं० १७९८ तक होती रहीं। मिश्र जी ने यह भी लिखा है कि अहमदशाह का आक्रमण मथुरा पर दो बार (सं० १८१३, सं० १८१७) हुआ जिसमें घनआनंद दूसरे आक्रमण सं० १८१७ में मारे गये।[2] इस कारण आचार्य शुक्ल का यह मत कि "ये संवत् १७९६ में नादिरशाही में मारे गये [3]" समीचीन नहीं।

स्थान

घनआनंद कहाँ पैदा हुये अथवा कहां के रहने वाले थे, इसके सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं।

१—"घनआनंद सुजान जान को रूप दिवानो।
वाही के रँग रँग्यो प्रेम फंदनि अरुझानो॥
बादशाह को हुकुम पाय नहिं गायो इक पद।
पै सुजान के कहे चाव सों गाये धुरपद॥
बादशाह ने कोपि राज्य ते याहि निकारयो।
बृन्दाबन में आय वेष वैष्णव को धार्‌यो॥
प्यारे मीत सुजान सों नेह लगायो।
लगन-बान ते विध्यो विरह-रस-मंत्र जगायो॥" —कवि-कीर्तन।

२—घनआनंद—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ५७।

३—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ३३५ पंचमावृति।

जैसा कि लोगों ने बताया और कवि ने अनेक स्थलों पर स्वयं लिखा है कि वे जमुना के किनारे रमण रेती में गोकुल घाट पर रहा करते थे। अपनी रचनाओं में कवि ब्रज-वास की बार-बार प्रशंसा करते अघाता नहीं। घनआनंद का कहना है कि ब्रज-रज से अंजी आँखें ही राधा-कृष्ण का दर्शन कर सकती हैं। कुछ समय तक ये नंदगाँव में भी रहे। इनके अनुसार ब्रह्म रस और निखिल परमार्थ ब्रज-रस में ही है। इस आशय के अनेक छंद उनकी विभिन्न रचनाओं में प्राप्त होते हैं! एक कवित्त देखिए:—

"गुरुनि बतायौ, राधा-मोहन हूँ गायौ सदा,
सुखद सुहायौ बृन्दावन गाढ़े गहि रे।
अद्भुत अभूत महि-मंडल परे तें परे,
जोवन को लाहु हा हा, क्यों न ताहि लहि रे॥
आनंद को घन छायौ रहत निरन्तर ही,
सरस सुदेह सों पपीहा-पन बहि रे।
जमुना के तीर केलि-कोलाहल-भीर ऐसी,
पावन पुलिन पै पतित, परि रहि रे॥

इस प्रकार उनके अनेक छंद इस संदर्भ में उद्धृत किये जा सकते हैं खासकर उनकी निबंध रचनाओं से।

स्वभाव

घनआनंद की रचनाओं को पढ़ने पर उनके स्वभाव के संबंध में पता लगता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि साधक कवि अपनी साधना की उच्च-भूमि तक पहुँच चुका था। वे ब्रज-गलियों में प्रेमोन्मत्त हो घूमते रहते थे। श्रीकृष्ण के संयोग और वियोग की अनुभूति उन्हें प्रति क्षण हुआ करती थी। प्रेम-विह्वल हो वह कभी हँस पड़ता और कभी रो पड़ता था। यमुना, ब्रज, ब्रज-वीथियों, आदि से इनको बेहद मोह था। "ये यमुना के किनारे आनंदमग्न हो घूमते रहते थे। उसकी तरंगों को देख देखकर उल्लसित और ध्यानमग्न हो जाते थे। रमणरेती में रज को आँखों से लगा लगाकर उन्मत्त की तरह चारों ओर देखा करते थे। हृदय में भाव की तरंगें उठती थीं और बेसुध होकर भगवत् प्रेम में मग्न हो जाते थे।[1]" इस संबंध में जनश्रुति भी है कि जब विदेशी मुसलमान इन्हें तलवार मारने लगे तो जैसे-जैसे इन्हें काटते जाते वैसे-वैसे ये ब्रज-रज में लोटते जाते थे। परिचय-रूप में घनआनन्द का एक चित्र भी प्राप्त हुआ है जिसके नीचे निम्नोक्त छंद भी अंकित है:—

१. 'भावना प्रकाश' के छंदों के आधार पर।

"सकल गुण सुजान स्वामी जी श्री आनन्दघन जी।
वृंदावन में अटल व्है वास कियो आनन्दघन ॥
रचें कटीली काव्य-स्तुति कछु परत न गाई।
अनुपम अक्षर जटित चोज चेटक सरसाई ॥
श्रवन परत हिय द्रवै छकनि झूलै सब झूलै।
मानो मोहन मंत्र महासुधि की सुधि भूलै ॥
गान कला में अति कुशल सुनत बढ़ै आह्लाद मन।
वृंदावन में अटल व्है वास कियो आनन्द घन ॥

चित्र और उसके नीचे लिखा हुआ उक्त छप्पय घनआनंद ग्रन्थावली में दिया गया है। इस छप्पय से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह चित्र हमारे आलोच्य कवि का ही है।

सुजान

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि 'सुजान' नाम की एक वेश्या थी जो मुहम्मद शाह के दरबार में रहती थी। उसी के कहने पर घनआनन्द ने 'धुरपद' गाया, बादशाह के कहने पर नहीं। कवि की प्रेयसी का नाम 'सुजान' था, यह एक किंवदन्ती मात्र है—कोई प्रामाणिक उल्लेख इसे पुष्ट करनेवाला नहीं प्राप्त हुआ अब तक। प्राय: सभी स्वच्छन्द कवियों की ऐसी प्रवृत्ति थी अवश्य, जैसा कि उनकी रचनाओं का अनुशीलन करने पर स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। विचार करने पर पाया जाता है कि कवि के कवित्त और सवैये नामक छंदों में तो 'सुजान' शब्द का व्यवहार प्राय: हुआ है किन्तु उसके १०५५ के लगभग पदों में यह प्रयोग बिल्कुल नहीं पाया जाता। ऐसे कवित्त, सवैये भी जो ऋतु-वर्णन, भक्ति और दर्शन से सम्बन्ध रखते हैं उनमें भी 'सुजान' शब्द का व्यवहार नहीं हुआ है। जैसा कि डा० मनोहरलाल गौड़ ने लिखा है कि कवि की रचना में २५० वार 'सुजान' शब्द का प्रयोग किया गया है और ये सभी प्रयोग ११ अर्थों तक ही सीमित हैं। इनमें 'सुजान' शब्द' श्रीकृष्ण, राधा, राधा और कृष्ण, प्रियपुरुष, प्रेयसी स्त्री, ज्ञानी या चतुर, प्रेमी, व्यक्तिवाचक संज्ञा आदि प्रधान अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।[1] इस प्रसंग को लेकर गौड़ जी ने बड़ी दूर तक और बड़ा सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है। अन्त में उनके निष्कर्ष निम्नलिखित हैं:—

"समस्त विमर्श का निष्कर्ष यही निकलता है कि घनआनन्द जी की प्रेमिका सुजान नर्तकी थी। इसलिये उसके नाच, गान, वेश-भूषा, सुरत, मदपान आदि का वर्णन इन्होंने किया है। यह मुहम्मदशाह के दरबार में भी गायिका थी जैसा कि राग-कल्प-

---

१. घनानंद और स्वच्छंद काव्यधारा, पृ० ४०-४३ प्र० सं०।

द्रुम के रागों से व्यक्त होता है। उसका कवयित्री होना प्रमाणपुष्ट नहीं। घनआनन्द ने जो अपनी रचनाओं में सुजान के अनेक पर्याय विविध अर्थों के साथ प्रयोग किये हैं उसका कारण कवि की प्रेमपरक रहस्य दृष्टि है। भौतिक प्रेम को व्यापक आध्यात्मिक रूप देने की दृष्टि से व्यक्तिवाचक शब्द व्युत्पत्यर्थ के सहारे गुणवाचक विशेषण मान लिये हैं। सुजान का अर्थ सुजान (चतुरज्ञानी) अथवा सुजान जीवन देनेवाला मानकर स्त्री, पुरुष, ईश्वर, मनुष्य सभी के लिए उसका यथावसर प्रयोग किया है। यही नियम उनके अपने नाम के विषय में लागू है। पद्य और निबंध रचनाओं में जो 'सुजान' परित्याग हुआ है उसका कारण भक्ति-जीवन का अपवाद प्रतीत होता है जो उन्हें सुजान की रट लगने से मिला होगा। अतः सुजान शब्द के विविध तथा असार्वत्रिक प्रयोग से प्रेयसी की सत्ता में आशंका करने की आवश्यकता नहीं।"[1]

घनआनन्द और ब्रजनाथ—

ब्रजनाथ नाम के व्यक्ति घनआनन्द की कविता के प्रख्यात् प्रशंसक थे। इन्होंने घनआनन्द की कविताओं को 'घनआनन्द कवित्त' नाम से संग्रह भी किया है। ब्रजनाथ ने कवि की बड़ी ही मार्मिक ढंग से प्रशंसा और प्रशस्ति गायी है। इनके अनुसार घनआनन्द की कविता तत्कालीन कवियों की कविताओं से भिन्न और विलक्षण है।

'धाम-चमत्कार' नामक अपनी एक रचना में घनआनन्द जी ने यह स्वयं लिखा है कि मुझे ब्रज और वृन्दाबन-माहात्म्य-वर्णन करने की प्रेरणा ब्रजनाथ से ही मिली—

"ब्रज सरूप कछु मन में आयौ।
सो हठ कै ब्रजनाथ कहायौ॥" धाम-चमत्कार।

इस कारण लगता है कि ब्रजनाथ घनआनन्द के समसामयिक थे।

रचनायें और उनका संक्षिप्त परिचय

कुल मिलाकर अब तक घन आनन्द की ४१ निम्नलिखित कृतियाँ बतायी जाती हैं।[2] उनके नाम इस प्रकार हैं—

१—सुजानहित
२—कृपाकंदनिबंध
३—वियोगवेलि
४—इश्कलता
५—यमुना-यश
६—प्रीतिपावस
७—प्रेमपत्रिका
८—प्रेमसरोवर
९—ब्रजविलास
१०—रस वसंत
११—अनुभवचंद्रिका
१२—रंगबधाई

---

१. घनानन्द और स्वच्छंद काव्यधारा—डा० मनोहर लाल गौड़ पृ० ५२।
२. घनआनन्द पं०-विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—प्र० सं० पृ० ७३।

१३--प्रेमपद्धति
१४--वृषभानुपुर-सुषमा
१५—गोकुलगीत
१६—नाम माधुरी
१७—गिरिपूजन
१८—विचार सार
१९—दानघटा
२० —भावनाप्रकाश
२१ —कृष्णकौमुदी
२२—धामचमत्कार
२३ —प्रियाप्रसाद
२४--वृन्दाबन-मुद्रा
२५—ब्रज-स्वरूप
२६—गोकुलचरित्र
२७—प्रेमपहेली
२८—रसनायश
२९—गोकुल विनोद
३०—ब्रज प्रसाद
३१—मुरलिकामोद
३२—मनोरथमंजरी
३३—ब्रज व्यवहार
३४—गिरिगाथा
३५—ब्रज वर्णन
३६—छंदाष्टक
३७—त्रिभंगी छंद
३८--कवित्त-संग्रह
३९—स्फुट
४०—पदावली
४१—परमहंसवंशावली।

इनमें 'ब्रजवर्णन' और ब्रजस्वरूप' नामक ग्रंथ अभी उपलब्ध नहीं हो पाये है, इनका उल्लेख मात्र मिल पाया है। त्रिभंगी छद, छंदाष्टक और कवित्त संग्रह ये स्वतंत्र कृतियां नहीं हैं। ये स्फुट रचनाओं की लघु संग्रह मात्र हैं। इसके अतिरिक्त 'घनआनंद-कवित्त' नामक ब्रजनाथकृत संग्रह में 'दानघटा' भी आ गया है।

उक्त सभी रचनाओं का अध्ययन करने पर ज्ञात हो जाता है कि ये रचनाएँ दो प्रकार की हैं—मुक्तक तथा निबंध। मुक्तकों का भी हम चाहें तो अध्ययन की सरलता के लिए दो भागों में छंदानुसारी वर्गीकरण कर सकते हैं—कवित्त-सवैये और गेयपद।

उक्त रचनाओं में से अधिकांश का अत्यन्त संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

कृपाकंद-निबन्ध

इस रचना में २६ सवैया, २१ कवित्त, ४ दोहे, ६ पद, १ सारंग और १ छप्पय हैं। इसकी कतिपय रचनाएँ 'सुजानहित' में भी आ गयी हैं। इन समस्त कविताओं में भगवान् की कृपा पर ही अधिक बल दिया गया है। लगता है कवि ने स्वयं ही इस ग्रंथ का नामकरण 'कृपाकंद निबन्ध' रखा है।

बियोग-बेलि

भावाकुल गोपियों का विरह-वर्णन ही इस कृति का विषय है। कुल मिलाकर इसमें ८१ पद्य हैं। रास करते-करते श्रीकृष्ण अन्तर्ध्यान हो जाते हैं—गोपियां उनके अभाव में वियोग-व्यथित होती हैं। इसका वर्णन भागवत महापुराण में भी है और वही प्रसंग इस रचना में भी है। भाव मार्मिक, सफल और व्यंजक हैं।

इश्कलता

यह फारसी शैली मिश्रित रचना है। इसमें प्रिय की रूपासक्ति, वियोग और उससे सम्बन्धित प्रेम-भावना का बड़ा ही हृदयग्राही चित्रण किया गया है। इसमें कुल मिलाकर ५४ छंद हैं। भाषा की दृष्टि से इसमें उर्दू, पंजाबी का भी मेल है। प्रेम-भक्ति से छके कवि ने इसकी रचना भावोन्माद में की है। एक स्थल पर कवि ने रचना का परिचय देते हुए कहा है— इश्कलता हृदय के चमन में हरी-भरी होती है। विरह के काँटे ही उसकी बाढ़ हैं और आनंद का घन ही इसे सींचता है।' 'स्याम सुजान' के अभाव में जब वेदना का स्वरूप बहुत खर होकर गंभीर और गहन हो जाता है तब वह मानस का मंथन कर बड़ी पीड़ा देती है। ऐसे समय में इसी इश्कलता से ही आनन्दलाभ होता है :—

"स्याम सुजान बिना लखें लगे विरह के सूल।
तामें इश्कलता भई घनआनंद को मूल॥"

यमुनायश

इसमें कवि-द्वारा यमुना का महत्व-वर्णन किया गया है। यमुना के प्रति रचनाकार में असीम और अपार भक्ति-भावना की प्रधानता है। लगभग सभी दोहों एवं अर्धालियों का प्रारम्भ 'यमुना' शब्द से किया गया है। कवि गोकुलघाट पर यमुना के किनारे रहता था। वह कहता है कि यमुना के किनारे मैं फूला-फूला फिरता हूँ—

"जमुना के तट फूल्यौ फिरौं।"

और भी—

"गोकुलघाट पियौ जिन पानी
जमुना रस महिमा पहिचानी।"

प्रीतिपावस

इस रचना में कवि ने श्रीकृष्ण और उनके साथी गोपों के साथ पावस-ऋतु में विहार करती हुई गोपियों का वर्णन किया है। चूँकि श्रीकृष्णआनंद-घन हैं अतएव उनके कारण प्रेम की भी वर्षा का वर्णन किया गया है। कवि ने दर्शाया है कि ब्रज में प्रेम-पावस शाश्वत-रूप से वर्तमान रहता है। भाषा अत्यन्त सहज-सरल होती हुई भी भाववक्रता एवं व्यंजना आदि गुणों से पूर्ण है। इसमें कुल १०६ अर्धालियाँ पाई जाती हैं।

प्रेमपत्रिका

विरहिणी गोपियाँ कृष्ण के पास प्रेम-पत्र भेजती हैं—इसी संदर्भ को लेकर कवि ने इसकी रचना की है। इसमें प्रारंभ में २६ प्लवंग छंद हैं बाद में मुक्तक, कवित्त-सवैये

आदि संगृहीत कर दिये जान पड़ते हैं। अतएव डॉ० गौड़ का कहना है कि 'प्रेम पत्रिका' आरंभ के २६ प्लवंग छन्द तक ही सीमित है—चूँकि इसके बाद पाये जानेवाले कवित्त-सवैयों में पत्रिका के भाव नहीं है इस कारण उन्हें 'प्रेम-पत्रिका' के अंतर्गत नहीं माना जा सकता।[1] इस कारण डॉ० गौड़ की मान्यता समीचीन लगती है।

अनुभवचन्द्रिका

इसमें कवि ने ब्रज की आध्यात्मिक महिमा का बड़ा व्यापक वर्णन किया है। उसने कहा है कि ब्रज श्रीकृष्णचन्द्र का प्रत्यक्ष रूप है। इसकी महिमा का जिक्र करते हुए कवि का कहना है कि यह अखंड, अमल, अनूप और अगम्य है एवं यह परमधाम का भी धाम है। जब तक भक्त भगवान् के प्रेम में पक नहीं जाता तब तक वृन्दाबन का महत्व समझ में नहीं आता। ब्रज के विषय में इस प्रकार के महत्व ज्ञापन प्रायः सभी कृष्ण भक्त कराते रहे—जैसे, नन्ददास ने भी कहा था—'बिनु अधिकारी भए नाहि वृन्दाबन सूझै।" आदि। कहा गया है कि '(सांसारिक उत्तापों से) उत्तप्त हृदयों को ब्रज के सरिता-सरों का जलपान करने से अपार शान्ति मिलती है। कवि अपनी रचना में अपनी अभिलाषा प्रकट करता है कि वह ब्रज में ही रहे और श्रीकृष्ण एवं राधा के गुणगान करता रहे। इसमें कुल ५२ अर्धालियाँ और ३ दोहे हैं।

रंगबधाई

इस रचना का उद्देश्य श्रीकृष्ण के जन्म की बधाई का वर्णन करना है। जन्म के समय के हर्षोल्लास का वर्णन भाव-भक्तिपूर्ण ढंग से किया गया है।

चूँकि घनआनन्द निम्बार्क सम्प्रदायी विचारधारा को माननेवाले थे—इस सम्प्रदाय वाले श्रीकृष्ण- जन्म की बधाई का वर्णन करते ही हैं—इस कारण उन्होंने ऐसा किया है। इसी से कवि का निम्बार्क सम्प्रदायी होना भी सिद्ध होता है।

प्रेमपद्धति

इसमें प्रेम-लक्षणा भक्ति का वर्णन किया गया है। प्रेम का महत्व-ज्ञापन कराते हुए कवि ने यह बतलाया है कि गोपी की कृपा ही उसका सर्वोत्तम साधन है। कवि ने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि गोपियों के पाद-प्रसाद से उसे अपने आराध्य का कठिनता से प्राप्त होने वाला प्रेम सुलभ हो गया। इसमें कुल छन्दों की संख्या १४३ है।

वृषभानुपुर-सुषमा-वर्णन

जैसा कि इसके नाम से ही ज्ञात होता है इसमें वृषभानुपुर का वर्णन किया गया है,

---

१ घनानंद और स्वच्छन्द काव्यधारा—पृ० ७१-७२ प्र० सं०।

किन्तु थोड़ी दूर तक, उसके पश्चात् कवि अपने को राधा की चेरी के रूप में वर्णन करता है। राधा ने अपनी इस चेरी का नाम बहुगुनी रखा है। वह हमेशा उसके पास मौजूद रहती है। वह राधा का अनेक ढंग से शृंगार करती और विभिन्न ढंग से मनोविनोद भी करती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि घनआनंद सखी-भाव के उपासक थे।

गोकुलगीत

इसमें गोकुल का भक्तिभावपूर्वक वर्णन किया गया है। यह २१ अर्धालियों की एक लघु रचना है।

नाममाधुरी

इसमें राधा का विभिन्न नाम-पर्यायों के आधार पर संकीर्तन किया गया है। छंद-संख्या ४२ है।

गिरि पूजन

यह छोटी रचना है जिसमें गोवर्धन-पूजा का बड़ा सरस और मार्मिक वर्णन किया गया है।

विचार-सार

इसमें कवि ने बताया है कि कृष्ण-नाम-स्मरण ही समस्त विचारों का सार है।

दानघटा

इसमें दान-लीला का वर्णन बड़ी सरस और प्रांजल भाषा में किया गया है। एक तरफ से श्रीकृष्ण ग्वाल-बालों के साथ आते हैं दूसरी ओर राधा अपनी सखियों के साथ आती हैं। दान के प्रसंग को लेकर व्यंग्य-बौछार एक दल दूसरे दल पर करता है—चोटें चलती हैं जो बड़ी सरस, सजीव और मार्मिक हैं। इसमें कुल १३ सवैये और २ दोहे हैं।

भावनाप्रकाश

विषयानुकूल रचना के दो विभाग किये जा सकते हैं पहले में राधा-कृष्ण के मिलन का वर्णन है और द्वितीय में ब्रजराज की महिमा का स्तवन। इसमें अपनी भाव-विभोरता का अच्छा वर्णन किया है कवि ने। कुल छन्दों की संख्या २२० है।

ब्रजस्वरूप

इसमें श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ विहार एवं ब्रज की महत्ता आदि का वर्णन किया गया है। कुल ११२ छंद।

प्रेमपहेली

यह अपूर्ण रचना है। राधा अथवा किसी गोपी के प्रेम-प्रसंग को लेकर इसका वर्णन प्रारंभ हुआ था किन्तु बीच में ही वह क्रम टूट गया है।

रसनायश

भगवत्नाम-संकीर्तन में निरंतर रत रहनेवाली जिह्वा की प्रशंसा की गई है।

गोकुलविनोद

इसमें कृष्ण और बलराम के विहार का वर्णन किया गया है। रचना प्रौढ़ और भाषा संस्कृतनिष्ठ शब्दावली से युक्त है। जल-केलि का बड़ा सुन्दर वर्णन है।

कृष्णकौमुदी

इसमें कवि ने सर्वप्रथम श्रीकृष्ण के नाम-संकीर्तन के छंद दिये हैं। फिर उनका शिख-नख पद्धति पर रूप-वर्णन किया है। रचना सुन्दर और प्रौढ़ है। इसमें ६ अर्धालियां और ७५ दोहे हैं।

धामचमत्कार

इसमें भी कवि ने वृन्दावन का भक्ति-भाव-पूर्ण वर्णन किया है। वैष्णवदर्शन के विचार से भी कवि वृन्दावन की महत्ता स्वीकार करता है। वृन्दावन को कवि ने 'आश्चर्य-धाम', 'अगाध-रस-सागर' 'परमानन्दमय' 'परमतत्वमय' और 'आनन्दमय' कहा है। कवि के अनुसार वृन्दावन कृष्ण-रूप का दर्पण है। यह निगमागम से परे है। ७० छंद हैं।

प्रियाप्रसाद

इसमें प्रारंभ में राधा-नाम संकीर्तन के छंद हैं और बाद में कवि अपने को उसकी चेरी के रूप में प्रस्तुत करता है। इससे कवि का सखीभाव स्पष्ट है। इसमें दोहे और अर्धाली मिलाकर १३० हैं।

वृन्दाबनमुद्रा

इसका भी वर्ण्यविषय व्रज-स्तवन है।

व्रजप्रसाद

व्रज की महिमा एवं उसकी शोभा आदि का वर्णन इसका भी वर्ण्य विषयहै। इसमें व्रज और श्रीकृष्ण को अभिन्न बनाया गया है। १०८ छंद हैं।

गोकुलचरित्र

इसमें कृष्ण-चरित्र का वर्णन उनके गोचारण आदि अनेक प्रसंगों को लेकर किया गया है। रचना ४० छंदों की है।

मुरलिकामोद

यह भी एक लघु रचना है जिसमें श्रीकृष्ण की मोहनी मुरली का प्रभाव गोपियों पर दिखाया गया है।

मनोरथमंजरी

इसमें गत एकाध रचनाओं की भाँति ही कवि ने अपने को राधा की अंतरंग सखी के रूप में पेश किया है। सखी के रूप में वह राधा-कृष्ण-केलि में पर्याप्त सहयोग देता और साज-सज्जाकारक सिद्ध होता है। यह ग्रंथ कवि की साम्प्रदायिक दृष्टि को देखते हुए बड़ा महत्वपूर्ण माना जाता है। कुल ३० छंद।

ब्रजव्यौहार

इसमें दान आदि विभिन्न लीलाओं एवं ब्रज-गोपी तथा ब्रज-व्यवहार आदि का महत्व दिया गया है। सब मिलाकर यह २३७ छंदों की अपेक्षाकृत एक बड़ी रचना है।

गिरिगाथा

इसमें गोवर्धन पर्वत का महत्व विभिन्न दृष्टियों बताया गया है। कुल ५४ छंद हैं।

छंदाष्टक

रास-क्रीड़न के समय अन्तर्हित हुए कृष्ण को वियोग-व्याकुल हो गोपियों की खोज का वर्णन किया गया है। इसमें कुल ८ छंद।

त्रिभंगी

इसमें ५ त्रिभंगी छंदों में कवि ने जीव को भगवान् की भक्ति करने का उपदेश दिया है।

परमहंसवंशावली

इसमें कवि ने निंबार्क सम्प्रदायी गुरुओं की आदि से लेकर अपने समय तक की नामावली का वर्णन किया है।

कवि की रचनाओं के पीछे व्याप्त भावनामयता के संबंध में एक बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि पदावली और निबंध से संबंधित छंदों में भक्तिभाव की प्रधानता है और कवित्त-सवैयों में लौकिक प्रेमभाव की। इस आधार पर कहा जा सकता है

कि कवि अपने शुद्ध भक्तिकालीन जीवन में पदावली तथा निबंध से संबंधित रचनाएं की और अपने लौकिक शृंगार के समय कवित्त-सवैयों की। समस्त घनआनंद-साहित्य का विचार पूर्वक अनुशीलन करने पर यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

दूसरी बात यह कि इन रचनाओं में परस्पर भाव-साम्य भी देखा जाता है।

घनआनन्द का काव्यादर्श

घनआनन्द के समय में काव्य का रीतिमार्ग प्रायः सर्वमान्य हो चुका था। उसका प्रभाव चाहे किंचित् मात्र में ही सही, रहा सभी कवियों पर। रीतिमार्गी काव्यादर्शों को मानने से काव्य में कलात्मकता की प्रतिष्ठा हुयी और उसका स्वरूप बहुत कुछ वहिर्मुखा हो गया। अन्तरपक्ष से वह निर्बल साबित हुआ। तात्पर्य यह कि काव्य का अनुभूति पक्ष दब-सा गया। समस्त रीतिमुक्त कवियों ने खास कर घनआनन्द ने अनुभूति का वह पुट पाक तैयार किया जिसने न केवल तत्कालीन कविता के एक अभाव की पूर्ति मात्र किया वरन् आज के पाठकों को भी रसप्लावित किया।

घनआनन्द ने अपने काव्यादर्श को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ढंग से व्यक्त किया है। घनआनन्द ने प्रेम हीनों की निन्दा की है। प्रेमहीनों से उनका तात्पर्य रीतिमार्गी कवियों से था जिन्हें प्रेम की दिखावटी अनुभूति मात्र होती थी वास्तविक नहीं। इस प्रसंग में उन्होंने कहा है कि व्यक्तिगत प्रेमानुभूति ही काव्य के लिए महत्वपूर्ण तत्व है। शास्त्रीय अथवा रीतिमार्गी कवियों को वे बुद्धि नेत्र धारी समझते थे और कहते थे कि ये बुद्धि के नेत्रवाले हृदय नेत्र (प्रेम की व्यक्तिगत अनुभूति करने) वालों की तुलना में मोर पंख के समान केवल सौन्दर्यशाली मात्र है और कुछ नहीं। ऐसे बुद्धि नेत्रों से देखनेवाले कवि भावना-मयता के अतल तल का स्पर्श कभी नहीं कर पाते। घनआनन्द के अनुसार वास्तविक अनु-भूति बुद्धि से अलग की चीज है :—

"जौ लौं जगै न भूल, तौ लौं सोवै सुरति-सुख।
वैंही होय अनुकूल, तौ भूलै सुख सुधि सबै।"

इसी कारण, प्रेमानुभूति की प्रक्रिया में बुद्धि को दासी और रीझि को पटरानी बताया है कवि ने—

'रीझि सुजान सची पटरानी बँची बुधि बावरि व्है करि दासी।'

एक सवैये में कवि ने यह बतलाया है कि बुद्धि के आधार पर प्रेम-कथन पानी मथने के समान असफल है। वह व्यक्ति जो ऐसा करता है प्रेम की वास्तविकता से अज्ञात, हृदय से जड़ है—प्रेम का थोथा निर्वाह मात्र करता है :—

"बात के देस तें दूरि परे जड़ता नियरे सियरे हिय दाहैं।
चित्त की आंखिन लोने विचित्र महारस रूप सवाद सराहैं।।

नेह कथ सठ नीर मथैं, हठ कै कण्ठ प्रेम को नेम निवाहैं।
क्यों घनआनन्द भीजे सुजाननि यौं अमिले मिलिबो फिरि चाहैं।"

घनआनन्द ने काव्य में ब्योरेवार वर्णन को महत्व दिया है। यह ब्योरा वर्णन में वस्तुओं अथवा भावों दोनों का ही हो सकता है। अनुभूति के कच्चे कवि अनुभूति के अभाव में कुछ का कुछ कह जाते हैं। किन्तु एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि यह ब्योरा बहुत कुछ व्यक्तिगत और भावना-प्रधान होता है। इस 'ब्यौरे' के बिना काव्य अपने उद्देश्य से गिर जाता है और ऐसे कवि मूढ़ कहलाते हैं। देखिए :—

"मही दूध सम गनै हंस वक भेद न जानै।
कोकिल काक न ज्ञान कांच मनि एक प्रमानै॥
चन्दन ढाक समान रांग रूपौ संग तोलै।
बिन बिवेक गुन दोष मूढ़ कवि ब्यौरि न बोलैं।"

घनआनन्द के काव्यादर्श के अनुसार विषाद-प्रधान काव्य ही उत्तम काव्य है। इस अर्थ में घनआनन्द रीतिकाल के छायावादी कवि हैं। कवि को व्यक्तिगत रूप से विषाद का अनुभव होना चाहिए क्योंकि जब तक कवि स्वयं इस विषाद मार्ग से नहीं गुजरता तब तक उसकी कविता उत्कृष्ट और उत्तम नहीं हो सकती। जब प्रेम की अग्नि लग जाती है तब आनन्द की वर्षा होने लगती है। इसीलिए घनआनन्द का कहना है कि यदि कवि को रोना नहीं आता तो गाना भी रोने के समान है। देखिए :—

मरम भिदै न जौ लौं, मरम न पावै तौ लौं।
मरमहिं भेदे कैसे सुरति घँघोइबौ,
प्रेम आगि जागै लागै झर घनआनन्द कौ।

चटक-मटक भाषा एवं अलंकार आदि से सुसज्जित बहिर्मुखी कविता का भी कोई महत्वपूर्ण स्थान न था कवि घनआनन्द की दृष्टि में। इसीलिए उसने स्पष्ट ही कहा है :—

"समझि समझि बातें छोलिवो न काम आवै।
छावै घनआनंद न जौ लौं नेह बौरई॥"

'समझ-समझ कर बात करना कार्यसिद्धिदायक नहीं सिद्ध होती जब तक 'नेह बौरई' हृदय पर छा नहीं जाती।

वैसे कवि ने एक स्थल पर अक्षर पर विचार करते हुए लिखा है—"हृदय को छलने का साधन भी अक्षर ही है और उसे तृप्त करने का साधन भी वही है। यद्यपि सत्य अक्षर से दूर है, पर अक्षर ही उसका परिचय कराता है। भावमग्न होकर अक्षर की गति जानने पर तत्वबोध हो जाता है।"

"अच्छरै मन को छरै बहुरि अच्छर ही भावै,
रूप अच्छरातीत ताहि अच्छरै बतावै,
'तत्वबोध बौरानि में अच्छर गति अच्छर लहै।'

इससे कवि-द्वारा भाषा की महत्ता की स्वीकृति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वह भावों को सफल ढंग से वहन करनेवाली है।

एक अन्य अत्यन्त उत्कृष्ट छन्द में कवि ने वाणी का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है जिससे कवि की गम्भीर कविता-सम्बन्धी धारणा का परिचय मिलता है। देखिए :—

"उर-भौन में मौन को घूँघट कै दुरि बैठी बिराजति बात-बनी।
मृदु मंजु पदारथ भूषन सों सुलसै हुलसै रसरूप-मनी॥
रसना-अली कान-गली मधि ह्वै पधरावति लै चित-सेज ठनी।
घनआनंद बूझनि-अंक बसै बिलसै रिझवार सुजान धनी।"

अर्थात् 'वाणी' मौन का घूँघट डालकर हृदय के भवन में दुलहिन की तरह बैठी रहती है। वह रसना की सखी के साथ कान की गली में होकर चित्त-शय्या पर पहुँचती है। सुजान धनी रिझवार होकर उसे बूझ के अंक में लेते हैं और उससे विलास-विहार करते हैं।" शब्दों के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कवि कहता है :—

सबद सरूप बहै जानन सुजन चहै,
अचिरज यहै औरै होत सुर लाग मैं।
सूक्षम उसास गुन बुन्यौ ताहि लखै कौन,
पौन पट रंग्यौ पेखियत रंग राग में।

अर्थात् "शब्द वक्ता के सूक्ष्म श्वास-प्रश्वासों का ही पवन पट है जो अनुराग के रंग में रंगा रहता है। वह बुद्धि का खेल नहीं, प्राणों का वाह्य रूप है। लगन में वाणी का भिन्न ही प्रकार हो जाता है।"

घनआनन्द के अनुसार कवि को सूक्ष्मदर्शी होना आवश्यक है। इसीलिए कवि ने लिखा है:—

"आँखिन मूँदिबो बात दिखावत, सोवनि जागनि बातहि पेखि लै।
बात-सरूप अनूप अरूप हैं, भूल्यौ कहा तू अलेखहि लेखि लै॥
बात की बात सुबात विचारिबो सूछमता सब ठौर बिसेखि लै।
नैननि-काननि बीच बरो घनआनन्द मौन-बखान सुदेखि लै॥"

जैसा कि डॉ० गौड़ ने लिखा है कि "साधारण प्रतीत होनेवाले संसार के अनेक रूप व्यापारों में सूक्ष्मदर्शी के लिए बात, अर्थात् वर्णनीय पदार्थ विद्यमान् रहते हैं। आँख-मुँदने में, सोने-जागने में, सर्वत्र बात रहती है। यह अनूप सरूप और अरूप सभी प्रकार की होती है। बात की बात में बात देखने की सूक्ष्मता सर्वत्र होनी चाहिए। द्रष्टा के नेत्र और श्रोता के कानों के बीच में 'मौन बखान' विद्यमान् रहता है।"[1]

काव्यादर्श के विषय में कवि का एक अन्य विश्वास यह था कि अंतः प्रेरणा से ही उत्कृष्ट और मार्मिक कवित्व की सृष्टि होती है। इसीलिए कवि का कहना था कि "जब सुजान के तीक्ष्ण कटाक्ष बाणों से हृदय आहत हो जाता है और प्राण प्यासे होते हैं तो काव्य के भाव आनन्द के घनों के समान उमड़ते हुए सुजान की ही ओर से आते हैं। लोग लग कर कवित्त बनाते हैं, पर मुझे तो मेरे कवित्त ही बना लेते हैं।" देखिए :—

"तीछन ईछन बान-बखान सो पैनी दसान लै सान चढ़ावत।
प्राननि प्यासे, भरे अति पानिप, मायल घायल चोप बढ़ावत।
यौं घनआनंद छावत भावत जान-सजीवन-ओर तें आवत।
लोग हैं लागि कबित्त बनावत मोंहि तो मेरे कबित्त बनावत॥"

इस प्रकार संक्षेप में घनआनन्द के कुल सात काव्यादर्शों की चर्चा डॉ० गौड़ ने अपने प्रबन्ध में किया है, जो इस प्रकार हैं :—

(१) 'काव्य में भावानुभूति ही सर्वप्रमुख है।'

(२) 'व्यक्तिगत अनुभूति के बल पर वर्ण्यभाव या वस्तु का ब्योरेवार ऐसा वर्णन हो जो उसी वस्तु के स्वभाव का परिचायक बने।'

(३) 'करुण काव्य ही श्रेष्ठ होता है पर करुणा की अनुभूति व्यक्तिगत रूप से मर्माहत हुए बिना नहीं होती।'

(४) 'भाषा की बाहरी सजावट या निष्प्रयोजन वक्रता काव्य में नहीं होनी चाहिए।'

(५) 'कवि की वाणी उसके हृदयगत भावों का ही बाह्य आकार होना चाहिए।

(६) 'कवि को सूक्ष्मदर्शी होना चाहिए।'

(७) 'बिना किसी अन्तः प्रेरणा के प्रयत्न पूर्वक बनाया गया काव्य श्रेष्ठ नहीं होता।"[1]

इसके अतिरिक्त जैसा कि पहले ब्रजनाथ का नाम कवि के प्रशंसकों में दिया जा चुका है, उन्होंने भी कवि की कविता को समझने के लिए निम्नलिखित विशेषताएँ बताई हैं :—

१—घनआनंद और स्वच्छंद काव्यधारा-पृ० २५१

(अ) "इनके काव्य को समझने वाला वही व्यक्ति हो सकता है जिसने उच्च प्रेम का अनुभव किया हो। उसका हृदय चाह के रंग में भीजा हो। उसने हृदय की आँखों से नेह की पीर तकी हो।

(ब) सुन्दरताओं के भेद को जानता हो।

(स) संयोग-वियोग-रीति का कोविद हो।

(द) भावना-भेदों के स्वरूप को पहचानता हो।

(य) भाव की अनुभूति न कर अपने को विचक्षण कहने वाले इनका काव्य समझ नहीं सकते।

(फ) बातों के गूढ़ भेद को जानना काव्य-ज्ञान के लिए आवश्यक है।

(ह) वह स्वच्छंद हो।"[1]

उक्त सभी ब्रजनाथ द्वारा निर्धारित काव्यादर्श निम्नलिखित उन्हीं (ब्रजनाथ) के सवैयों में मिल जाते हैं—

"नेही महा ब्रजभाषा-प्रवीन औ सुन्दरतानि के भेद को जानै।
जोग-बियोग की रीति मैं कोविद, भावना-भेद-स्वरूप को ठानै।।
चाह के रंग मैं भीज्यौ हियो, बिछुरें मिलें प्रीतम सांति न मानै।
भाषा-प्रवीन, सुछंद सदा रहै सो घन जी के कवित्त बखानें।।"

विचार करने पर पता लगता है कि घनआनन्द और ब्रजनाथ द्वारा दिए गये काव्यादर्शों में बहुत साम्य है। हम जब घनआनन्द के काव्यादर्शों से तत्कालीन रीति मार्गी काव्यादर्श का मिलान करते हैं तो उसे पर्याप्त भिन्न और विपरीत पाते हैं। जहाँ रीतिमार्गी काव्य वाह्याभिमुखी था वहाँ स्वच्छन्दमार्गी अन्तर्मुखी। जहाँ रीतिमार्गी बुद्धि को प्रधान मानकर कविता करते थे वहाँ स्वच्छन्दमार्गी हृदय को। इसी कारण स्वच्छन्दमार्गी ठाकुर ने रीतिमार्गियों के विषय में कहा था :-

"सीख लीन्हों मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीख लीन्हों यश औ प्रताप को कहानो है।
सीख लीन्हों कल्पवृक्ष कामधेनु चिन्तामनि,
सीख लीन्हों मेरु औ कुबेर गिरि आनो हैं।
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याको नहि भूलि कहूँ बाँधियत बानो है।
डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है।"

१—घनानन्द और स्वच्छंद काव्यधारा-डा० गौड़, २५२-५३।

इस बंधे-बंधाय दायरे में प्रवृत्ति से नितांत स्वच्छन्द कवि उतरना नहीं चाहते थे। जब उन्हें जैसी भी अनुभूति हुई कह डाला निस्संकोच होकर। रसखानि, घनआनन्द, आलम, बोधा, ठाकुर आदि ऐसे ही स्वच्छन्दता-प्रेमी कवि थे।

घनआनन्द की भावव्यंजना उसके इन्हीं काव्यादर्शों की प्रतिफलन है—ऐसा हम आगे चलकर देखेंगे। ब्रजनाथ और घनआनन्द दोनों के ही काव्यादर्शों का पूर्णत: प्रस्फुटन कवि की कविता में हुआ है। कवि की कविता को समझने के लिए उसकी काव्यादर्श-सम्बन्धी मान्यताएं ताले के लिए ताली-सी उपकारक सिद्ध होती है।

भाव-पक्ष

"इश्क को दिल में जगह दे ग़ालिब।
इल्म से शायरी नहीं आती॥"

सभी रीतिकालीन कवियों का मुख्य वर्ण्य-विषय शृंगार ही रहा है चाहे वे रीतिबद्ध कवि रहे हों अथवा रीतिमुक्त (स्वच्छंद)। यह बात जरूर है कि उनकी वर्णन-प्रणाली में अन्तर रहा है—जहां रीतिबद्ध कवि शृंगार का वर्णन ऊहा और काल्पनिक आधार पर करते थे वहां रीतिमुक्त (स्वच्छंदमार्गी) कवि अपनी समृद्ध अनुभूति के आधार पर। स्पष्ट है कि परिपाटीबद्ध ऊहात्मक वर्णन अपनी व्यंजना में उतना रसात्मक नहीं साबित होता था जितना गंभीर स्वानुभूति से परिचालित वर्णन रीतिमुक्त कवियों का। रीतिमार्गी कवियों ने अपनी सारी शक्ति कविता को कलात्मक बनाने में खर्च कर दी थी जिसके कारण भावपक्ष निर्बल और एकांगी हो गया था। इसके विपरीत स्वच्छंदमार्गी कवियों ने भाव की सच्ची अनुभूति को ही काव्य का उत्स माना और कलापक्ष पर भी इन का कुछ कम अधिकार नहीं था। घनआनन्द के काव्य में भी शृंगार की प्रधानता है। शृंगार में भी वियोग शृंगार अपने पूर्ण उन्मेष के साथ व्यक्त हुआ है।

शृंगार-भावना

जैसा कि अभी कहा जा चुका है कि घनआनन्द का भी मुख्य वर्ण्य शृंगार ही है। वैसे सर्वप्रथम इसकी प्रेरणा कवि को लौकिक प्रेम से ही मिली किन्तु बाद में उसका उन्नयन (Sublimation) भगवत्प्रेम में हो गया। एक मुख्य बात जो रीतिमुक्त कवियों के शृंगार-वर्णन के संदर्भ में स्मरण रखनी चाहिए वह यह कि इनका समस्त शृंगारिक वर्णन प्रबल आत्मानुभूति पर ही आधारित था। यही कारण है कि तत्कालीन प्राप्त होनेवाली रीतिबद्ध कवियों की शृंगारी कविता में कलात्मकता के प्रति अत्यधिक आग्रह होने के कारण भावनामयता की जो कमी आ गयी थी उसकी परिपूर्ति इन स्वच्छंदमार्गी आत्मानुभूत शृंगारी कवियों के वर्णनों द्वारा हुयी। और

घनआनन्द तो अपने सभी साथियों (आलम, बोधा, ठाकुर और द्विजदेव) से सभी माने में आगे रहे। घनआनन्द को हमें रीतिमुक्त अथवा स्वच्छंद काव्यधारा का उसी प्रकार का प्रमुख कवि मानना चाहिये जिस प्रकार कबीर को निगुंनियों, तुलसी को रामाश्रयी, सूर को कृष्णाश्रयी, जायसी को हिन्दी-सूफियों और केशव को रीति-बद्ध कवियों का प्रमुख कवि मानते हैं।

संयोग-शृंगार:—

प्रेमियों का मिलन दो प्रकार का कहा गया है—संयोग-सहित और संयोग-रहित। पहले को हम संभोग और दूसरे को वियोग की संज्ञा देते हैं। यद्यपि ऐसा विभाजन काव्यशास्त्र द्वारा नहीं किया गया है किन्तु भावनात्मकता के आधार पर ऐसा किया जाना ठीक है। इसी पर आगे विचार करते हुए डा० मनोहरलाल गौड़ ने लिखा है—"जो प्रेम वासनामूलक है उसका पर्यवसान भोग में होता है। पर जो विशुद्ध आत्मानुभूति के रूप में है उसका पर्यवसान भी प्रेम में ही होता है। ऐसा प्रेम किसी वस्तु का, जैसे भोगादि, साधन नहीं बनता। इस साध्यभूत प्रेम का मिलन संयोग कहा जाना चाहिये। घनआनन्द जी ने अनुभूत्यात्मक प्रेम के प्रसंग से संयोग वर्णन किया है और साधनात्मक प्रेम में राधा और कृष्ण के मिलन में संयोग का वर्णन पदों में किया है।"[1]

इसके विपरीत भारतीय काव्यशास्त्रियों ने संयोग शृंगार की परिभाषा करते समय भोग को प्रधान माना है जिसमें एक प्रेमी अपने दूसरे प्रेमी का दर्शन, स्पर्श, चुंबन, आलिंगन आदि करता है। रसाचार्यों के बताये हुए इसी संयोग का वर्णन प्रायः सभी कवियों ने किया है।

दूसरी महत्वपूर्ण बात घनआनन्द के संयोग-शृंगार के सम्बन्ध में जानने की यह है कि प्रायः यह कहा जाता है कि संयोग में विहार अथवा विलास की प्रधानता होने के कारण भावानुभूति अत्यन्त शिथिल हो जाती है किन्तु घनआनन्द के संयोग-शृंगार-वर्णन में बराबर भावों का उदय होता अथवा उसकी अनुभूति होती रहती है। यही कारण है कि कवि ने—संयोग हो अथवा वियोग—भावोदय का ही अधिक वर्णन किया है जिससे विहार आदि के परंपराभुक्त अश्लील वर्णनों से उसका काव्य बच गया है। इसी कारण उसके संयोग और वियोग दोनों प्रकार के वर्णनों में मानसिकता की ही प्रधानता है। कवि को अनुभूति के समक्ष काव्यशास्त्रियों द्वारा गिनाये गये संयोग-सुख के व्यापार कभी पास नहीं फटकते।

---

१ घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा—डा० गौड़, पृ० ३०१-२।

संयोग में वियोगः—

घनआनन्द द्वारा वर्णित प्रेम-भावना में, चाहे वह संयोगात्मक स्थिति की हो अथवा वियोगात्मक स्थिति की, अभिलाषा की ही प्रधानता है। यह अभिलाष वियोग की ही भांति संयोग में भी प्रेमी को आन्तरिक पीड़ा से व्यथित किये रहता है। इसी कारण संयोग में भी वियोग का भान बराबर बना रहता है—

"यह कैसो संयोग न बूझि परै जु वियोग न क्यों हू बिछोहत है।"

यही कारण है कि घनआनन्द का प्रेमी संयोगी स्थिति में भी उसका पूरा-पूरा सुख अथवा आनन्दलाभ नहीं कर पाता। उस बेचारे का विरह से कभी पिंड छूटता ही नहीं।

तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर इसके विपरीत सूरदास आदि कृष्णभक्त कवियों के शृंगार-वर्णनों के अन्तर्गत जो संयोग और वियोग वर्णन किए गए हैं वे संयोग और वियोग के समय सोलह आने संयोग और वियोगमय ही हैं जिससे उनके प्रेमियों को संयोग में वियोग का बिल्कुल डर नहीं होता। किन्हीं अंशों में यह कहा जा सकता है कि सूर आदि के ऐसे वर्णन भारतीय और घनआनन्द तथा उनके मार्गानुयायी अन्य कवियों के उक्त प्रकार के वर्णन विदेशी भाव-मिश्रण के परिणाम है। घनआनन्द ने तो बार-बार संयोग में वियोग की स्मृति दिलायी है और अपने प्रेमी से यह व्यक्त करवाया है कि बिछुड़ने पर सतत् उसका चिंतन करते रहने के कारण दूसरा प्रेमपात्र मिला-सा लगता है और मिलने पर बिछुड़ा हुआ-सा लगता है—संयोग में भी संयोग नहीं हो पाता।

देखिए —

"लहाछेहकहा धौं मचाय रहे ब्रजमोहन हो उख-नीद भरे हो।
मिलि होत न भेंट, दुरे उघरो, ठहरें ठहरानि के लाले परे हो॥
बिछुरें मिलि जात मिलें बिछुरें यह कौन मिलाप के ढार ढरे हो।
घनआनन्द छाय रहो नित ही हित—प्यासनि चातक जात मरे हो॥"

चाह अथवा अभिलाष की शाश्वत वर्षा घनआनन्द के काव्य में मिलेगी शास्त्रीय शब्दावली में हम इस चाह अथवा अभिलाष को 'रति' कह सकते हैं।" प्रिय के रूप सौंदर्य को देखकर प्रेमी के हृदय में उसी प्रकार हर्ष की लहरें उठती हैं जिस प्रकार समुद्र में तरंगें और राग में ध्वनि उठा करती है। यद्यपि ये प्रिय के रूप-सौन्दर्य का पान करते हैं तथापि प्यासे ही बने रहते हैं। जैसे-जैसे उधर मुख-मंडल प्रभा से अधिकाधिक दीप्त होता जाता है वैसे-वैसे हृदय में चाह (अभिलाष, रति) बढ़ती जाती है।"

देखिए:—

"छबि की निकाई एहो मोहन कन्हाई, कछू,
बरनी न जाई जो लुनाई दरसति है।
बारिधि तरंग जैसे धुनि-राग-रंग जैसे,
प्रतिछिन अधिक उमंग सरसाति है।
किधौं इन नैननि सराहौं प्रान प्यारे रूप-
रेलहि सकेलैं तऊ दीठि तरसति है।
ज्यौं-ज्यौं उत आनन पै आनंद सु ओप औरे,
त्यौं-त्यौं इन चाहनि मैं चाह बरसति है।।"

इसी प्रकार का एक अन्य वर्णन देखिये जिसमें आँखें यद्यपि रूप-रस का पान करती हैं किन्तु इससे परिणाम यह होता है कि हृदय अभिलाषाओं (चाहों) का संचित आगार बन जाता है जो कभी कम होने आता ही नहीं। मन प्रिय गुणों पर रीझ कर उसका कथन करना चाहता है किन्तु बेचारी वाणी गुणों में उलझ जाती है—बुद्धि की गति भी श्लथ हो जाती है। स्मृति अपनत्व को भूल जाती है। इन विभिन्न लालसाओं के कारण संयोग का लाभ बिल्कुल ही नहीं मिल पाता।"
देखिये:—

"आँखें रूप-रस चखैं चाहैं उर सचि राखैं,
लोभ लागी लाखैं अभिलाखैं निबरैं नहीं।
तोहि जैसो भाँति लसै, बरनिबों मन बसै,
बानी गुन गसै, मतिगति विथकै तहीं।
जान प्यारी सुधि हूँ अपुनपौ बिसरि जाय,
माधुरी-निधान तेरी नैंसुक मुहाचहीं।
क्यों करि आनंद घन लहिये संजोग-सुख,
लालसानि भीजि रीझि बातें न परैं कहीं।।"

संयोग-सुख की उपलब्धि इसीलिए नहीं हो पाती कि दोनों प्रेमी जब मिलते हैं तब इतने अरमानों को लिए हुए कि मिलकर भी नहीं मिल पाते। इस प्रकार उर की गति का विवरण दिया जाय भी तो देखिए, इसी को कवि ने निम्नोक्त छंद में बाँधकर इस प्रकार रखा है:—

मुख-चाहनि-चाह उमाहन को घन आनंद भाग्यो रहैई झरै।
मनभावन मीत सुजान-संयोग बने बिन कैसे बियोग टरै।
कबहूँ गो दई गति सो सपनो सो लखौं तौ मनोरथ-भीर भरै।
मिल हूँ न मिलाप मिलै तनको उर की क्यों करि व्यौरि परै।।"

इसी लिए प्रेमी की स्थिति दुहेली (Double sided) हो जाती है जिसके कारण प्रेमपात्र बहुत दुःखी हो जाता है क्योंकि एक ओर से उसे संयोग-सुख और दूसरी ओर से प्रिय-विषयक अभिलाष घेरे रहते हैं। इस दुहरी अवस्था के भी अनेक छन्द घनआनन्द की रचनाओं से दिये जा सकते हैं किंतु यहां स्थानाभाव के कारण ऐसा नहीं किया जा रहा है। संयोगीस्थिति में भी दुहरी स्थिति का यह दुःख प्रेमपात्र के हृदय में वर्तमान् रहना शास्त्रीयता के विरुद्ध है किन्तु एकनिष्ठ प्रेमियों को देखते हुए यह एकदम स्वाभाविक और सहज लगता है। वास्तव में घनआनन्द ने अपनी यथार्थ आत्मानुभूतियों से हमें शृंगार की उस सहज-स्वाभाविक स्थितियों का दर्शन और आस्वादन कराया है जिसकी कल्पना भी शायद काव्यशास्त्री कभी न कर सके हों क्योंकि यह मानते हुए भी कि शास्त्र जीवन की नाना स्थितियों की सम्यक् कल्पना करके ही ऐसा मार्ग तैयार करता है जिस पर सभी चलें किन्तु फिर भी उसने सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवन-स्थितियों अथवा भाव-दशाओं की कल्पना अथवा अनुमान कर लिया होगा—यह सत्य नहीं है। हमारा जीवन असंख्य भाव-दशाओं का अपार संगम है। उसके भाव-बूंदों की गणना हम कर ही कैसे सकते हैं। हर मौलिक और प्रतिभासम्पन्न कलाकार अथवा कवि युग अथवा देश-काल द्वारा निर्धारित मान्यताओं से (घनआनन्द की भांति) इतना ऊपर उठ जाता है कि वह शास्त्र का नहीं वरन् शास्त्र उसका अनुकर्ता बन जाता है—उसकी मान्यता को देखकर नवीन मान्यताएँ बनती हैं। भावनाओं की इसी शाश्वतता अथवा कविताओं में मानसिकता की इसी सहज प्रतिष्ठा के कारण आज के विकसित इस मनोवैज्ञानिक युग के व्यक्ति के विभिन्न मानसिक उधेड़-बुन को भी हम चाहें तो घनआनन्द की कविताओं में स्पष्ट रूप से देख सकते हैं जबकि तत्कालीन रीतिमार्गी कवियों की कविता– जो शास्त्रीयता के दलदल में फँसकर अस्त-व्यस्त हो गयी थी—में ऐसा दर्शन संभव नहीं।

इस महाकवि को भावदशाओं के अणु-परमाणुओं तक का परिज्ञान था जिसका परिचय उसने अपनी कविताओं में दिया है। उसने संयोग में वियोग के बने रहने का एक कारण तो पहले यह दिया कि मिलने पर मनोरथों का मेला लगा रहता है, अतएव संयोग-सुख का लाभ नहीं हो पाता है। इसका एक अन्य कारण देते हुए कवि ने यह बताया कि वियोगावस्था में अधिक दिनों तक रहने का अभ्यास कर लेने के पश्चात् संयोगावस्था में भी वियोग की भ्रांति होने लगती है। इसी प्रकार का यह निम्नोक्त छंद देखिए जिसमें कहा गया है कि "प्रिय बहुत दिनों के विरह के बाद मिला है। वह विरह का ही अभ्यस्त हो गया है। वह संयोग में भी वियोग का अनुभव करता है। प्रिय को देखते हुए भी यह विश्वास नहीं होता कि वह आ गया है। विरही को निश्चित नहीं होता कि यह संयोग है या छल। इस प्रकार मिलने पर भी कुशल 'अनमिले' की ही है।"

"देखें अनदेखनि-प्रतीति पेखियति प्यारे,
नीठ न परत जानि दीठि किधौं छल है।
दीपति-समीप की बिछोह माँहि जोहियत,
आरसी-दरस लौं परम ध्यान जल है।
निपट अटपटी दसा सों चटपटी-बीच,
बूड़त बिचारो जीव थाह क्यौं हूँ न लहै।
कहा कहौं आनँद के घन जानराय हौ जू,
मिले हू तिहारे अनमिले को कुशल है॥"

उक्त कारणों के अतिरिक्त भी ऐसे अन्य कई कारण हैं जिनके कारण संयोग—सुख की उपलब्धि प्रेमी को नहीं हो पाती। प्रेमी का अपने को लघु और प्रिय को महा-महिम समझना भी इनमें से एक महत्वपूर्ण कारण है। संयोगावस्था में प्रेमी को अपनी लघुता पर आश्चर्य होता है इस कारण उसे संयोग-सुख-प्राप्ति के बजाय दुःख की प्राप्ति होती है।

अब एक ऐसा भावचित्र देखिये जिसमें प्रेमी प्रिय-आगमन के पूर्व मानसिक रूप सँभलता है—"लाख लाख भाँति से प्रेमी संयोग-सुख की अभिलाषा कर रहा था और अपने हृदय की बातों को कहने की सोच रहा था। इन कहीं जानेवाली बातों में ऐसी बातें नहीं कि सब 'रसभीनीं' ही रही हों वरन् उसमें 'रिसभीनी (उपालंभ-पक्ष की) बातें भी थीं जो बीन-बीन कर विशेष रूप से रखी गयीं थी; किन्तु प्रिय के आते ही तद्विषयक सारी चेतना खो गई और 'रीझि बावरे' होकर कुछ और ही रहा जाने लगा।'

"उरगति ब्यौरिबे कौं सुन्दर सुजान जू को,
लाख लाख विधि सों मिलन अभिलाखियै।
बातें रिस रसभीनों कसि गसि गास झीनी,
बीनि बीनि आछी भाँति-पाँति रचि राखियै।
भाग जागें जौ कहूँ बिलोकें घनआनंद तौ,
ता छन की छाकनि के लोचन ही साखियै।
भूलै सुधि सातौ दसा बिबस गिरत गातौ,
रीझि बावरे ह्वै तब और कछू भाखियै॥"

घनआनंद का प्रेमी इतनी वियोग-वेदना से व्याकुल हो चुका है कि मिलन में उसकी अंतर्वृत्तियाँ सहज एवं स्वाभाविक रूप में संयोग-सुख को स्वीकार करने में हिचकती हैं—इस कारण संयोग में भी सदा वियोग की अनुभूति होती रहती है—'

"अनोखो हिलग दैया बिछुरै तौ मिल्यो चाहै,
मिलेहू मैं मारै जारै खरक बिछोह की।"

"प्रेमी प्रिय का निरंतर ध्यान करने से बौद्धिक वियोग का अभ्यस्त हो गया है। वियोग में हृदय-स्थित प्रिय से आलाप संभाषणादि नहीं हो सकता। यह अवस्था संयोग में भी बनी रहती है। संयोग वियोग तुल्य हो जाता है। × × × इस तरह अभिलाष, अंत-र्ध्यान, वियोग का अनन्तर्य तथा प्रिय की उदासीनता आदि कारणों से घनानन्द का संयोग सर्वत्र वियोग-संयुक्त है। × × अश्लीलता का अभाव तथा रसानुभूति का बौद्धिकरूप घनानन्द की देन माननी चाहिए। इनका शृंगार भावात्मक से बौद्धिक रूप में विकसित होता गया है। प्रेरणा कहीं से ली हो पर अनुभूतियों का स्वरूप अभारतीय नहीं है। वह चिंतन में अपने वर्णनों की परंपरा में संगत प्रतीत होता है।"[1]

कवि ने परंपरा से चले आते हुए संभोग शृंगार के अंतर्गत किये जानेवाले विलास आदि का भी वर्णन किया है किन्तु उसमें भी भाव-तल्लीनता की ही प्रधानता है स्थूल व्यापार-वर्णन का नहीं। कवि की अंतर्वृत्ति भावों को ही अधिक पकड़ती है स्थूल व्यापारों को उतना स्थान नहीं देती। कवि द्वारा रचित पदावली-साहित्य में राधा-कृष्ण के शृंगार और विलास से संबंधित रचनाएं प्राप्त होती हैं। कहीं-कहीं कवित्त और सवैयों में भी ऐसे वर्णन देखने को मिलते हैं किन्तु ऐसे वर्णन अधिकांश लौकिक शृंगार से ही संबंध रखते हैं। संयोग के अंतर्गत आनेवाले हर्षोल्लास आदि के चित्र भी घनआनन्द ने खींचे हैं। उनमें भी कवि की अन्तर्मुखता की ही प्रधानता है। एक चित्र ऐसा दिया जा रहा है कि जिसमें नायिका के यौवनागम के साथ-साथ उसमें हर्षोल्लास, उत्साह एवं नवीन मनोभावों का भी आगमन हो रहा है—

"ललित उमंग बेलि आलबाल अन्तर में,
आनन्द के घन सींची रोम-रोम व्है चढ़ी।
आगम उमाह चाह छायो सु-उछाह रंग,
अंग अंग फूलनि दुकूलनि परै कढ़ी।
बोलति बधाई दौरि दौरि कै छबीले दृग,
दसा सुभ सगुनौती नीके इन पै चढ़ी।
कंचुकी तरकि, मिलै सरकि उरजि, भुज,
फटकि सुजान, चोप चुहल महा बढ़ी।।"

इस छंद का भाव यह है कि प्रिय आ गया है। नायिका हर्षोल्लसित हो उठी है। इस पर कवि कल्पना करता है कि नायक के आ जाने से नायिका के हृदय-रूपी आलबाल

---

१ घनानन्द और स्वच्छंद काव्यधारा—डॉ मनोहरलाल गौड़, पृ० ३०६।

(थाल्हे) में सुन्दर उमंग (उत्साह, हर्ष, उल्लास) की लता आनंद के बादलों से सींची जाकर रोम-रोम मार्ग से ऊपर चढ़ आयी है। प्रिय के आगमन के 'उछाह' का रंग इतना छा गया है कि वह वस्त्रों के बाहर निकला पड़ता है। वह अपनी आँखों से दौड़-दौड़ कर बधाई सी देती हैं। इतने हर्ष का परिणाम यह होता है कि कंचुकी तड़कने लगती है और सुजान से मिलने के लिए वह आतुर हो उठती है। ध्यान देने पर यह पता लगेगा कि इस वर्णन में प्रधानता भाव-तल्लीनता के सहारे सूक्ष्म चित्रण की ही है किन्तु छंद के अंतिम दो चरणों के भाव देव आदि रीतिबद्ध कवियों के आगतपतिका के संदर्भ में वर्णित 'धाई खोरि-खोरि ते बधाई पिय आवन की' भाव के बिल्कुल समान हैं। कोई कवि कहाँ तक अछूता रह जायेगा अपने युग में व्याप्त बहुप्रचलित और बहुसमर्थित प्रवृत्तियों से, किंतु ऐसे स्थल बहुत कम हैं। इस कारण ऐसा कहा जा सकता है कि यह कवि की मुख्य प्रवृत्ति नहीं है।

रूप-वर्णन

रूप श्रृंगार का उपकारक तत्व है। खासकर श्रृंगार के आलंबन को रूपवान् होना ही चाहिए। समस्त रीतिकालीन कवियों ने श्रृंगार रस के आलंबन-विभाव नायिका के रूप-वर्णन को 'नख-शिख' के अन्तर्गत वर्णित किया। जैसा कि देव की कविता की चर्चा करते हुए बताया है कि इसके अंतर्गत नायिका के पैर के नखों से लेकर उसके सिर के बाल के बीच में पड़ने वाले विभिन्न शरीरावयवों का आलंकारिक वर्णन तद्युगीन कवियों ने बड़ी लाग से किया हैं। इनमें अधिकांश वर्णन अपने वर्ण्य विषय के सहज-सौंदर्य का चित्रण नहीं प्रस्तुत करते।

घनआनन्द ने परंपरा अथवा परिपाटी के रूप में इसे नहीं अपनाया किन्तु श्रृंगार की यात्रा में रूपनगर से तो गुजरना ही पड़ा इस कारण उन्होंने भी रूप-सौंदर्य का वर्णन किया है। संस्कृत-साहित्य में भी शरीरावयव के नाना उपमान निश्चित हो चुके थे वही उत्तराधिकार रूप में हिन्दी कवियों को भी मिले। हिन्दी साहित्य अपने आदिकाल (वीरगाथाकाल) से लेकर लगभग आधुनिक हिन्दी की सन् १९२० ई० तक की कविताओं में उन्हीं निश्चित उपमानों का प्रयोग करता रहा किन्तु जब से छायावाद आया तब से रूपाकृति के लिए नवीन उपमान ग्रहण किए जाने लगे। एक बात उपमानों की निश्चिति और उनसे सम्बन्धित उपलब्धि के सम्बन्ध में जो कहनी हैं वह यह कि महाकवि अपनी विशिष्ट कवित्व प्रतिभा के बल से पुराने उपमानों के ही सहारे सुन्दर से सुन्दर चित्र खड़ा कर देते हैं और उन्हीं को लेकर साधारण कवि परंपरा पालन मात्र करते हुए जान पड़ते हैं। सूर, तुलसी, आदि महान् कवियों का सारा अप्रस्तुत विधान ऐसा ही उत्कृष्ट कोटि का है।

घनआनन्द ने भी प्रायः अपने समय में बहुप्रचलित उपमानों को अपनाया है। किन्तु उसके पीछे जो उन्होंने भाव पैदा करना चाहा है, जो चित्र उभारना चाहा है उसे बड़ी आसानी और सफलतापूर्वक कर दिखाया है। कान, नाक, पेट, कटि, वक्षदेश, पैर, पीठ आदि समस्त शरीराव के जैसे आलंकारिक वर्णन अन्य रीतिबद्ध अथवा रीतिमुक्त कवियों में मिलते हैं वैसे घनआनन्द में भी। उपमान-ग्रहण में कोई विशेष नव्यता नहीं दिखाई पड़ती। किन्तु उनको इतने सुन्दर भावपूर्ण स्थलों पर रक्खा गया है कि वे चमक उठे हैं। बानगी के लिये दो उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत कर मैं इस प्रसंग को यहीं समाप्त करता हूँ। नायिका प्रातः सोकर उठी है, उसका चित्र निम्नोक्त सवैये में खींचा गया है—

"रस आरस मोय उठी कछु सोय लगी लसैं पीक पगी पलकैं।
घनआनंद ! ओप बढ़ी मुख और सुफैलि गईं सुथरी अलकैं॥
अंगराति जँभाति लसैं सब अंग अनंगहि अंग दिये झलकैं।
अधरान में आधिय बात धरैं लड़कानि की आन परैं छलकैं॥

रूपचित्र वर्णन की दृष्टि से दो प्रकार के चित्रों को घनआनन्द ने खींचा है प्रथम खंड चित्र जिसके अंतर्गत आंख, कान, कर और पद आदि विभिन्न शरीरावयव को रखा जा सकता है और दूसरे समग्र चित्र जिसमें रूप का समग्र चित्र अत्यन्त प्रभावोत्पादक रूप में प्रस्तुत किया है। नायिका में इतनी रूप दीप्ति है कि वह उफन कर नदी की तरह सारे घर को भर देती है:—

"अंग अंग नूतन निकाई उझिलन छाई,
भौन भरि चली शोभा नदी लौं उफनि है।"

इसी प्रकार का एक अन्य चित्र देखिये जिसमें विकसित यौवन – सौन्दर्य का बड़ा हो भावपूर्ण हृदयग्राही एवं आकर्षक वर्णन किया गया है:—

"झलकै अति सुन्दर आनन गौर, छके दृग राजत काननि छ्वै।
हँसि बोलनि मैं छबि-फूलन की बरषा उर-ऊपर जाति है ह्वै॥
लट लोल कपोल कलोल करै, कल कंठ बनी जल जावलि द्वै।
अंग अंग तरंग उठै दुति की, परिहै मानो रूप अबै धर च्वै॥"

घनआनन्द के काव्य में अन्तर सौंदर्य की यही दीप्ति सर्वत्र वर्तमान् मिलेगी जो हमें रसात्मकता से सराबोर कर देती है—रीतिकालीन कवियों की भाँति वह सौंदर्य वर्णन के लिए परिगणित वस्तुओं का स्थूल और भोंड़ा खाता नहीं खोलती जो हमारी रही सही रुचि को भी मार भगाये।

निष्कर्षरूप में डॉ० गौड़ ने निम्नलिखित छः विशेषताएँ घनआनन्द के रूप-वर्णन की बतायी हैं।

१—"घनआनन्द का रूप वर्णन कुछ रीतिकाल की शैली का चमत्कार है जिसे उनकी प्रारम्भिक रचना मानना चाहिए शेप उनकी व्यक्तिगत अनुभूति है।'

२—रूप-वर्णन में द्रष्टा की आसक्ति झलकती है चाह के रंग भीजे हृदय तथा रीझ बावरे नेत्रों ने देखकर रूप का वर्णन किया है।

३—रूप मादक तथा पूर्ण विकसित विलासी है जिससे वेश्या प्रेम का अनुमान होता है।

४—शारीरिक सौंदर्य के संश्लिष्ट चित्रण भी किये हैं।

५—सौन्दर्य की अन्तर दीप्ति जितनी अधिक वर्णित हुयी है उतना वाह्य स्थूल रूप नहीं।

६—अनुभूति सत्य होने से उसकी अभिव्यक्ति के लिए नये प्रतीक कवि ने प्रयुक्त किए हैं।"[1]

विरह-वर्णन

घनआनन्द की श्रृंगारी कविता में वियोग-भावना की ही प्रधानता है। संयोग का भी चित्रण, जैसा इसके पूर्व दिखा आये हैं, हुआ है किन्तु काव्य मार्मिकता एवं रचनाओं की संख्या आदि दृष्टियों से वियोग की ही प्रधानता दिखायी पड़ती है।

घनआनन्द ही नहीं वरन् सभी स्वच्छंदमार्गी कवियों में संयोग की अपेक्षा वियोग भावना की प्रधानता पायी जाती है। ठाकुर, आलम, बोधा आदि ऐसे ही प्रेम-पथिक थे जिनकी दृष्टि वियोग पर जितनी जमी संयोग पर उतनी नहीं। घनआनन्द तो इन सभी से एक पग आगे थे। एक बात यहाँ ध्यान में रखनी चाहिये कि घनआनन्द की निबन्ध तथा पदावली की रचनाएँ वियोग-प्रधान न होकर भक्ति-प्रधान हैं जिनमें राधाकृष्ण के विहार-विलास का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इसके विपरीत घनआनन्द की कवित्त-सवैये की ऐसी रचनायें जिनमें लौकिक प्रेम-भावना की प्रधानता है उनमें वियोग वरिष्ठ बनकर आया है। जैसा कि कवि के काव्यादर्श के अन्तर्गत दिखाया जा चुका है कि वह वियोग-वेदना को एक आस्था-रूप में स्वीकार करता है और बिना उसके उत्कृष्ट कविता की सृष्टि मानने को तयार नहीं होता। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर हम उसकी समता करुण रसाचार्य भवभूति से कर सकते हैं जिन्होंने 'एकोरसः करुणा एव' कहकर मात्र करुण रस की ही काव्य में प्रतिष्ठा की थी। विदेशी कवि शैली की इन

1. घन आनंद और स्वच्छंद काव्यधारा—पृ० ३१२-१३।

पंक्तियों—"Our sweetest songs are those that tell of saddest thoughts." से भी कवि की काव्य-सम्बन्धी धारणा बिलकुल मिल जाती है। घन आनन्द का तो स्पष्ट कहना था कि "जब तक मर्मस्थल व्यथित नहीं होता तब तक किसी बात का मार्मिक रहस्य नहीं जाना जा सकता। वाणी का खिलवाड़ मर्म पर आघात नहीं कर सकता। राग (गीत) का स्वरूप तो राग (अनुराग) से ही जाना जा सकता है। नहीं तो बिना आँखों के कान व्यर्थ शब्दों को टकटोरते रहेंगे। प्रेम की कथा अकथ है। इसकी तान अथाह है। यदि रोना नहीं आता तो गाना भी रोने के समान है।" गोपियों की सिसक और उनकी कसक जब तक हृदय में नहीं आई तब तक रसिक कहलाना व्यर्थ है। रसिकता कुछ और ही चीज है।"

"मरम भिदै न जौ लौं भरम न पावै तौ लौं,
मरमहि भेदै कैसें सुरनि घंघोइबो।
राग ही तें राग के सरूप सौं चिन्हारि होति,
नैंन हीन काननि असूझ टकटोइबो।
प्रेम आगि जागें लागें झर घनआनंद को,
रोइबो न आवे पैं गाइबो हु रोइबो॥"

× × ×

"गोपिन की ससक कसक जौ न आई मन,
रसिक कहाए कहा रस कहूँ ओरई।"

इस प्रकार उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि घनआनन्द विरहानुभूति पर कितना बल देते थे। समस्त रीतिबद्ध अथवा रीतिसिद्ध कवि विरह वर्णन में शास्त्र द्वारा निर्धारित परम्परा के अन्धानुयायी थे—शास्त्र से अतिरिक्त उन्हें जो ऐसी अनुभूति होती भी होगी उसे वे शास्त्र विरुद्ध होने के कारण वर्णित नहीं करते थे। शास्त्र के अनुसार संयोग और वियोग समान रूप से महत्व रखते और समान रूप से वर्णित किये जाते थे। इस कारण इन रीतिमार्गी कवियों ने भी संयोग और वियोग को अपने काव्यों में समान स्थान दिया। उनके यहाँ स्वच्छंदमार्गी घनआनन्द, ठाकुर और बोधा अदि कवियों की भाँति शृंगार में विरह की प्रधानता नहीं है। वे सभी कुछ शास्त्र की तुला पर तोलते हैं मजाल क्या कि कुछ घटबढ़ हो जाये।

काव्य में विरहानुभूति की इस प्रधानता का समर्थन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी हो जाता है। मनोवेगों की प्रबलता ही हमारे दुःखात्मक भावों का आधार है। यद्यपि ये मनोवेग बड़े क्षणभंगुर होते हैं तथापि ये निराशामूलक स्थितियों की उत्पत्ति के कारण होते हैं। घनआनन्द ने ऐसे अनेक छंद लिखे हैं जिनसे मनोवेगों का आधिक्य स्पष्ट है

जिसके फल स्वरूप उनमें विरहानुभूति की प्रधानता हो उठी है। जैसे, निम्नोद्धृत एक छन्द देखिए :—

"अतंर हो किधौं अंतर हो, दृग फारि फिरौं कि अभागनि भीरौं।
आगि जरों अकि पानी परौं अब कैसी करौं हिय का विधि धीरौं।
जो घनआनंद ऐसी रुची तो कहा बस है अहो प्रानन पीरौं।
पाऊं कहाँ हरि हाय तुम्हें धरती में धसौं कि अकासहिं चीरौं॥"

"ऐसे आवेगपूर्ण मनोवेग हृदय में उत्पन्नविनष्ट होकर एक अवसाद का चिन्ह शेष छोड़ते हैं। वाह्य सौंदर्य का हर्ष भी इस आवेग के समुद्र में पड़कर क्षार हो जाता है। इस लिए इन कवियों को प्रिय का संयोग और प्रकृति सुषमा आदि उद्दीपन हर्ष उल्लास आदि के हेतु न बनकर विषाद और शोक ही उत्पन्न करते हैं।"[1]

"मन जैसे क्यूं तुम्हैं चाहत है सुबखानियै कैसे सुजान ही हौ।
इन प्राननि एक सदा गति रावरे बावरे लौं लगियै नित लौ॥
बुधि औ सुधि नैननि बैननि में करि बास निरंतर अंतर गौ।
उघरौ जग छाय रहे घनआनन्द चातिक त्यौं तकि मैं अब तौ॥"

तात्पर्य यह कि 'मैं जिस प्रकार तुम्हें प्रेम करता हूँ वह कैसे बताऊँ'। आप तो सुजान हैं। इन प्राणों की एक मात्र आप ही गति हो। मेरी बुद्धि, स्मृति, नेत्र और वचनों में तुम्हारा निरंतर बास होने से आपस का भेद लुप्त हो गया है। अब तो सारा जगत् दृष्टि से दूर हो गया। केवल तुम्हीं छाये हुए हो। मैं तो चातक के समान आपकी ओर देख रहा हूं।"[1]

वियोग में संयोग की स्थिति

जैसा कि संयोग-वर्णन के अंतर्गत यह अनेक उदाहरणों द्वारा विस्तार से दिखाया गया है कि घनआनन्द के प्रेमी को संयोग में वियोग का और वियोग में संयोग की स्थिति का भान होता रहता है। ये दोनों ही दशाएं अपने एकात्मरूप में कभी भोग्य नहीं रह पाती। इसमें भी वही मनोविज्ञान के अनुसार मनोवेगों की प्रबलता ही कारण भूत रूप में सामने आती रहती है। अत्यधिक चेतनासम्पन्न भावुकता मनुष्य को शंकाकुल और संदेहिल बना देती है। इस शंका और संदेह के कारण वह जिस स्थिति में होता है उसके प्रति भी बराबर शंकालु बना रहता है। परिणाम यह होता है कि वह दुःख में सुख की और सुख में दुःख की बराबर सोचा करता है। घनआनन्द के प्रेमी की स्थिति कुछ ऐसी ही है।

---

१ घनानन्द और स्वच्छन्द काव्य धारा डा० गौड़ पृ० ३१८।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि वियोग में संयोग सुख की स्मृति हमारी वियोग-वेदना को थोड़ी देर के लिए शान्त भी रखती है और उद्दीप्त करती भी है। वह शान्त इस प्रकार रखती है कि वियोग से आकुल-व्याकुल होते हुए प्रेमी को जब प्रिय की संयोगी दशा की स्मृति आ जाती है तब वह उसको लेकर सोचने लगता है और यह सोचना उसके लिये कुछ समय तक के लिए सम्बल साबित होता है और उद्विग्न इस प्रकार करती है कि वह (प्रेमी) शान्त स्थिति में रहा तो प्रिय की स्मृति उसे उत्तेजित कर उसकी मनोदशा को उद्दीप्त कर देती है। किन्तु संयोग-सुख की स्मृति प्राय: वियोग-दु:ख के उद्दीपक के ही रूप में चित्रित की जाती रही है। वियोग में संयोग की स्मृति कुछ ऐसा ही काम घन-आनन्द की भी कविता में करती है। देखिए :—

"छबि को सदन मोद मण्डित बदन चन्द,
तृषित चखनि लाल कबधौं दिखाय हौ।
चटकीलो भेष करें मटकीली भाँति सौंही,
मुरली अधर धरे लटकत आय हौ।
लोचन दुराय कछु मृदु मुसकाय नेह—
भीनी बतियानि लड़काय बतराय हौ।
बिरह जरत जिय जानि आनि प्रान प्यारे,
कृपानिधि आनंद को घन बरसाय हौ।"

प्रेमी प्रिय का स्मरण उसके समस्त रूप के साज-सज्जा के साथ करता है। इस प्रकार के अनेक छन्द उदाहरणरूप में यहाँ उद्धृत किये जा सकते हैं जिनमें प्रिय के साहचर्य से प्राप्त संयोग-सुख का स्मरण किया गया है।

विरह के भेद

आचार्यों ने विरह के चार भेद बताये हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। घन-आनन्द ने इनका वर्णन ध्यान देकर नहीं किया। भावों के सहज-सरल अभिव्यक्ति के मार्ग में यदि इनके वर्णन हो गये वह दूसरी बात है। रीतिमार्गी कवियों ने उक्त विरह-भेदों का जमकर वर्णन किया है। स्वच्छन्दमार्गी होने के कारण घनआनन्द ने ही नहीं, वरन् समस्त रीतिमुक्त कवियों ने इस प्रकार शास्त्र-विभाजित विरह-दशाओं पर ध्यान नहीं दिया। घनआनन्द की कविता में पूर्वराग, प्रवास और निर्मोहजन्य विरह-प्रकारों के वर्णन पाये जाते हैं। सभी के दो अथवा एक उदाहरण दिये जा रहे हैं—

'आँखि ही मेरी पै चेरी भई लखि फेरी फिरै न सुजान की घेरी।
रूप-छकी, तित ही बिथकी, अब ऐसी अमेरी परयाति न नेरी॥

प्रान लै साथ परी पर-हाथ बिकानि की बानि पै कानि बखेरी।
पायनि पारि लई घनआनन्द चायनि बावरी प्रीति की वेरी।।'

तात्पर्य यह कि "इन आंखों ने जब से प्रिय का दर्शन किया है तब से ये उनकी चेरी बन गयीं हैं। वे उस (प्रिय) की ओर से लौटाये जाने पर भी नहीं लौटती। रूप-सौंदर्य का पानकर अब ये छक गयीं हैं इस कारण वे वहीं लग गयी हैं। प्राणों को साथ लिये अब दूसरे के वश में हो गई हैं। उन्होंने चायनि के चक्कर में आकर अपने पैरों में व्यर्थ की वेड़ी पहन ली है।"

प्रवास

जब नायक कहीं परदेश चला जाता है तो उसे प्रवास कहते हैं। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में नायिका नायक से अलग होकर दुःखी होगी। ऐसी स्थिति मे नायिका के रोने-कलपने आदि का जो वर्णन किया जाता है वह प्रवासान्तर्गत आता है। घन आनन्द ने अनेक ऐसे सुन्दर छन्द लिखे है जिनमें प्रवासजन्य विरह का मार्मिक वर्णन पाया जाता है। उदाहरणार्थ—

"तब व्है सहाय हाय कैसें धौं सुहाई ऐसी,
सब सुख संग लै बिछोह-दुख दै चले।
सींचे रस-रंग अंग-अंगनि अनंग सौंपि,
अन्तर में विषम विषाद-बेलि बै चले।
क्यों धौं ये निगोड़े प्रान जान घनआनंद के,
गौहन न लागे जब वे करि बिजै चले।
अति ही अधीर, भई पीर-भीर घेरि लई,
हेली मनभावन अकेली मोहिं कै चले।।"

निर्मोहजन्य विरह

इसके अतिरिक्त कवि ने प्रेमी से प्रिय के निर्मोहपने पर मीठी शिकायत करवायी है। इस विषय से सम्बद्ध सैकड़ों छन्द लिखे गए हैं। इनमें कवि की अनुभूति कमाल का काम करती है। पूर्वराग की स्थिति की सारी मधुरता एवं रसमग्नता को आधार मानकर प्रेमी प्रिय के निर्मोह के प्रति उसी से जो कुछ कहता है वह हमारे साहित्य का शृंगार है। दो एक उदाहरण देखिए —

'पहिले तुम दूर ही ते मुसकाय बनाय की और की दीठि हँसे।
दरसाय मनोज की मूरति ऐसी रचाय के नैनन में सरसे।।

अब तो उर माँहि बसाय के मारत ए जू बिसासी कहाँ धौं बसे।
कछु नेह-निबाह न जानत हो तो सनेह की धार मैं काहे धँसे।।"

अर्थात् हे प्रिय प्रथम प्रथम तो तुम दूर-दूर से ही दृष्टि बचाकर (कोई देख न ले) मुसकराते रहे। उस समय अपनी मनोज-मूर्ति जैसी रूपाकृति दिखाकर नेत्रों को बड़े भाये। किन्तु अब (वियोग के समय) तो तुम्हारी वह मूर्ति मेरे हृदय में बसकर मुझे मार रही (वियोग में जला रही) है। हे विश्वासघाती प्रिय, कहाँ हो? यदि ऐसा करके नेह-निर्वाह नहीं करना था तो 'सनेह' की धारा में क्यों प्रवेश किया।" पता नहीं प्रिय निर्मोही वास्तविक रूप में है कि नहीं किन्तु वियोगाधिक्य प्रेमी को न जाने इसके पीछे किन-किन कारणों की कल्पना करने की छूट दे देता है। अधिक दिनों तक प्रिय-मिलन का न होना यह भी सिद्ध करता है कि सम्भवत: प्रिय मेरे जैसा तुच्छ और गुन-गौरव-रूप आदि से रहित प्रेमी से कौन पता है उदासीन हो गया हो। इस प्रकार ध्यान देने पर ज्ञात होगा कि कवि की इस प्रकार की विरहानुभूति को भी मनोविज्ञान का समर्थन प्राप्त है।

वास्तव में इन स्वच्छन्द और खिंची लकीर पर चलनेवाले रीतिमार्गी कवियों के वियोग-वर्णन अथवा समस्त काव्य-भावना के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि स्वच्छन्दता और परम्परात्मकता के कारण इनमें बड़ा अन्तर आ गया था। एक के सामने यदि उन्मुक्त हृदय और उससे उच्छलित भावनामयता थी तो दूसरे के सामने पूरा संस्कृत-साहित्य और उसका शास्त्र था जिसको आधार मानकर उन्होंने अपने हृदय से निकले हुये भावों को भी शास्त्रानुकूल काटा-छांटा और उसी (शास्त्रीयता) को अपनी सहज कवित्व की अभिव्यक्ति का कृत्रिम और गर्हणीय साधन बनाया। स्वच्छन्दमार्गियों की कविता अपने उद्देश्य अथवा लक्ष्य को शुरू से ही पहचानने के कारण उत्कृष्ट काव्य के विचार से हमारे साहित्य का शृंगार बनी और रीतिमार्गियों की कविता दो तत्त्वों में विभाजित हो गयी—शास्त्र और काव्य। किसी कवि में काव्य प्रबल है तो किसी में शास्त्र। किन्तु शास्त्र को कवित्व-अभिव्यक्ति का साधन बना लेने से सबसे बड़ी हानि यह हुई कि ये सभी कवि थे; शास्त्रीयता के कारण उसमें बाधा पड़ी, इस कारण उनके कवित्व का जितना एवं जैसा अधिक और उत्कृष्ट योग मिलना चाहिए था उससे हमारा साहित्य वंचित रह गया। इसके विपरीत उनके शास्त्र से कुछ विशेष जुड़ा नहीं। एक अन्य छन्द में नायिका अपने प्रेम-पात्र को सम्बोधित करती हुई कहती है कि—

"ऊतर सँदेसो मिलें मेल मानि लीजत हो,
ताहू को अँदेसो अब रह्यो उर पूरि कै।
उठी है उदेग-आगि जी जै कौन आस लागि,
रोम रोम पीर पागि डारी चिंता चूरि कै।

निपट कठोर कियो हियौ मोह मेटि दियौ,
जान प्यारे नेरे जाय मारी कित दूरि कै।।
तरफौं बिसूरि कै बिथा न टरै मूरि कै,
उड़ाय हौं सरीरै घनआनन्द यौं धूरि कै।।"

घनआनन्द के वियोग-वेदना-चित्रण को देखकर कतिपय निर्गुणमार्गी सन्त एवं सूफी कवियों की प्रेम-भावना-जिनमें विरह वरिष्ठ होकर आया है—याद आ जाती है। आगे चलकर इसी वियोग-वर्णन के अन्तर्गत हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि घनआनन्द पर फारसी और सूफियों का विदेशी प्रभाव था जिसके कारण उन्होंने अपने काव्य में विरह-भावना को इतनी प्रधानता दी है। उक्त छन्द की अन्तिम पंक्ति "उड़ाय हौं सरीरै घन-आनन्द यौं धूरि कै" से जायसी की विरहिणी नागमती के इस कथन से तुलना कीजिए :—

"यह तन जारो छार कै कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग भूलि कै कंत धरै जहँ पाँव।।"

तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि घनआनन्द की नायिका यह कहती है कि यदि आप नहीं आते तो अपने शरीर को विरह से धूल बनाकर उड़ाऊँगी—प्रश्न होता है कहाँ के लिये और किस प्रयोजन-सिद्धि के लिए ? उत्तर स्पष्ट है कि अपने शरीर को धूलिवत् चूर्ण कर हे प्रिय तुम से मिलने आऊँगी, यह उक्त पंक्ति का व्यंजित अर्थ है। ठीक उसी तरह जायसी की वियोग भस्मीभूता नागमती भी कहती है—वह भी अपने शरीर को क्षार कर उसी मार्ग में टिकी रहना चाहती है जहाँ उसका प्रिय भूल से ही सही, अपना पग रखकर उसे धन्य अथवा कृतार्थ कर दे।

रसानुभूतिक विरह

घनआनंद का कवित्व अनुभूतिप्रधान है—ऐसा मैंने उनके 'काव्यादर्श' को दिखाते हुए तथा अन्य कई स्थलों पर बतलाया है। रीतिमार्गी और स्वच्छन्द अथवा रीतिमुक्त कवियों के बीच जो सबसे बड़ी सीमा-रेखा खींची जा सकती है वह अनुभूति को ही लेकर। अधिकांश रीतिमार्गी कवियों में सच्ची अनुभूति का अभाव था और जो कुछ थोड़ी-बहुत अनुभूति थी भी वह शास्त्रीयता के चक्कर में पड़कर समाप्त हो गई। ऊहा और 'कवि शिक्षा' द्वारा पिटी लीक और शास्त्र ही उनके सर्वाधिक भावनामय व्यापार-वर्णन के अधार थे। उनका इस प्रकार का साहित्य-व्यापार स्वच्छंदमार्गी कवियों को नापसंद था। नापसंद ही नहीं वे चिढ़ते भी ऐसे व्यापारी कवियों से कम न थे। ठाकुर का 'सीखि लीनो मीन मृग खंजन कमल नैन' वाला कवित्त इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। विरह में भावनामयता की संभवतः सर्वाधिक आवश्यकता पड़ती है और यह भावनामयता यदि कहीं स्वानुभूति-प्रेरित हो तब तो

वह पूरा वर्णन खरा और सच्चा साबित होगा, इसमें किंचिन्मात्र भी संदेह नहीं, क्योंकि 'वियोगी होगा पहला कवि' वाला कथन और वियोगियों का पिछला इतिहास इसका साक्षी है। सभी रीतिमुक्त कवि स्वानुभूति के धनी थे। इसी कारण इनका काव्य मूर्धन्य काव्य की कोटि में आता है। इसके विपरीत देव, मतिराम, बिहारी, पद्माकर, लछिराम, प्रतापसाहि आदि अनेक रीतिमार्गी कवि वियोग-वर्णन के लिए 'विभावानुभाव व्यभिचारी के संयोग का वही पुराना साँचा लेकर उक्ति-वैचित्र्य आदि के बल पर विरह की ईंट पाथते और पकाते हैं जो चर्म-चक्षुओं को तो अच्छी लगती है किन्तु 'हिय आँखिन नेह' के लिए कुछ भी लाभ नहीं पहुँचा पाती। उक्त कथन का स्पष्टीकरण निम्नोद्धृत कविवर शंकर के एक वियोग-वर्णन से संबंधित छंद को देखने पर हो जायेगा—

"शंकर नदी नद नदीसन के नीरन की,
भाप बन अंबर तें ऊँची चढ़ि जायगी।
झरेंगे अँगारे, वे तरनि तारे तारापति,
या विधि खमंडल में आग मढ़ि जायगी।
दोनों ओर छोरन लौं पल में पिघल कर,
घूम घूम धरनी धुरी सी बढ़ि जायगी।
काहू बिधि विधि की बनावट बचैगी नांहि,
जो पै या वियोगिनी की आह कढ़ि जायगी।"

विरहानुभूति किस प्रकार हो रही है इसका वर्णन इसमें नहीं है वरन् इसमें वियोग-वेदना के हास्यास्पद और अत्युक्तिमूलक प्रभाव को दिखलाने का प्रयत्न किया गया है जिससे रसोद्रेक के स्थान पर रस-हीनता अवश्य होने लगती है। छंद को पढ़कर यह लगता है कि विरह-वर्णन अतिशयोक्ति और अत्युक्ति जैसे अलंकारों का ही विषय हो—उसका हृदय और उससे सहज विनिष्सृत भावना से जैसे इसका कोई संबन्ध हो न हो। कहने का तात्पर्य यह कि घनआनन्द की विरहानुभूति स्वानुभूति का परिणाम होने के नाते बड़ी सहज, सरल, मार्मिक, निश्छल, प्रभावोत्पादक, आकर्षक, व्यंजक और उत्कृष्टतम् विरह-वर्णन के साधनों से परिपूर्ण है जिसके कारण रीतिमार्गी कवियों से वह बिल्कुल भिन्न है।

उर्दूफारसी के कवियों ने भी विरह-वर्णन में अतिशयोक्ति और अत्युक्तियों का ऐसा सहारा लिया है कि उससे बिल्कुल इसका साधारणीकरण नहीं हो पाता। विदेशी वियोग-वर्णन-पद्धति से भी एक विशिष्ट प्रकार का अलगाव लिए हुए है घनआनन्द का वियोग-वर्णन।

रीतिमार्गी कवियों की भाँति घनआनन्द की विरहानुभूति बाह्याभिमुखी न होकर

अन्तर्मुखी है। वह तो अन्तर में ही अपना सब काम करती है, बाहर प्रगट हो नहीं होती। इसकी पुष्टि के लिए एक छन्द देखिए :—

"अंतर-आँच उसास तचै अति, अंग उसीजै उदेग की आवस।
ज्यौं कहलाय मसोसनि ऊमस क्यों हूँ कहूँ सुधरै नहिं थ्यावस।
नैनउ धारि दियें बरसैं घनआनन्द छाई अनोखियै पावस,
जीवनिमूरति जान को आनन है बिन हेरें सदाई अमावस।।"

अन्तर वियोग की आंच से तप्त होता रहता है। अंग विरहोद्वेग के कारण उसीजते रहते हैं। जिस प्रकार कोई कठिन ऊष्मा से परेशान हो किसी तरह कहीं भी जाकर धैर्य अथवा स्थैर्य को न प्राप्त कर पाये उसी प्रकार प्रेमी का हृदय विरह-मसोसों से व्याकुल होकर कहीं भी किसी प्रकार चैन अथवा शान्ति नहीं पाता। इधर नेत्र धारावत् अश्रुपात् करते हैं—कवि कहता है कि एक ओर तो हृदय वियोगाग्नि से जला जा रहा है और दूसरी ओर अश्रु-धारा बह रही है जिससे उस अग्नि को बुझना चाहिए किन्तु होता इसके विपरीत है। इस कारण विरह की यह वर्षा एक अनोखी वर्षा है। बिना जीवन-मूर्ति सुजान के आनन का दर्शन किये मेरे (प्रेमी) लिए शाश्वत रूप से अमावत् अँधेरा छाया रहेगा (जीवन में पूर्णिमा-मिलन या संयोग-का दर्शन कभी न हो सकेगा)। कितनी गहरी, घनी और अनुभूति में सच्ची अन्तर्वेदना थी उस महाकवि की जिसने प्रमुख रूप से प्रदर्शन की ओर प्रवृत्त रीतिमार्गी काव्य को गम्भीर आन्तरिकता की ओर मोड़ कर एक नई दिशा दी।

घनआनन्द ने वियोग का वर्णन करते समय कई चीजों का ऐसा वर्णन किया है जो वियोग-वर्णन के आधार हैं, जैसे; नेत्रों का वर्णन, प्राण का वर्णन, आशा, निराशा का वर्णन, उन्माद और चेतना का वर्णन, उपालंभ का वर्णन, नेही की रहनि का वर्णन आदि। यद्यपि इनके अतिरिक्त भी अन्य कई ऐसे वर्णन हैं जिनका वर्णन उनकी रचनाओं में किया गया है किन्तु स्थानाभाव के कारण सभी का उदाहरण पेश करना यहां संभव न होगा।

नेत्र

वियोग के कारण नेत्र सबसे अधिक दुःखी हैं। अन्य शरीरायवों की अपेक्षा इनकी स्थिति बड़ी करुण और दयनीय है। इनकी स्थिति घनआनन्द के ही शब्दों में सुनिये:—

'जिनकों नित नीकें निहारत ही तिनको अँखियाँ अब रोवत हैं।
पल पाँवड़े पायनि चायनि सों अंसुवान की धारनि धोवति हैं।
घनआनंद जान सजीवनि कों सपने बिन पाएँई खोवति हैं।
न खुली मुदी जानि परैं कछु ये दुखहाई जगे पर सोवति हैं।'

इस प्रकार नेत्रों को लेकर वियोग में उनकी विषम दशा का प्रायश: वर्णन किया गया है। इस प्रकार के वर्णनों में भी कवि की अनुभूति अपने वास्तविक और यथार्थरूप में ही प्रस्फुटित हुई है जिससे वर्णन मर्मस्पर्शी, सरस और स्वाभाविक हो उठे हैं। आंख पर हिन्दी कवियों ने बहुत लिखा है, खासकर प्रेम-प्रसंग को लेकर। किन्तु घनआनन्द का नेत्रवर्णन जो विशेष रूप से विरहान्तर्गत मानकर किया गया है उसमें एक विशिष्ट प्रकार की लाक्षणिकता, यथार्थता, अनुभूतियों की सहजता एवं मार्मिकता पायी जाती है जो अन्य कवियों में देखने को नहीं मिलती। एक स्थल पर तो कवि ने कहा है कि आंखों को तो प्रिय "दर्शन की भूख भस्मक रोग सी उग्र है पर वे सदा लंघन करती रहती हैं।"

मन

घनआनंद का वियोग अन्तर्वृत्ति-निरूपक है। इस कारण प्रेमी प्रिय-ध्यानरत रहते-रहते कभी अपने मन से बातें करने लगता है और कभी उसको एक अन्य पुरुष के रूप में मानकर उसकी लानत-मलामत भी करता है—शिकायत करता है कि यदि तुम (मन) पहले प्रिय के प्रेम में न उलझे होते तो आज यह तुम्हारी दुर्दशा न होती। कवि—द्वारा किये गये वर्णन को ही देखिए :—

"विष लै बिसार्यो तन, कै बिसासी आपचार्यो,
जान्यौ हुतौ मन, तैं सनेह कछु खेल सो।
अब ताकी ज्वाल मैं पजरिबो रे भलीभाँति,
नीके आहि, असह उदेग-दुख सेल सो।
गए उड़ि तुरत पखेरू लौं सकल सुख,
पर्यो आय औचक बियोग बैरी डेल सो।
रुचि ही के राजा जानप्यारे यौं अनंदघन,
होत कहा हेरे रंक, मानि लीनो मेल सो।।"

प्रेमी अपने मन को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि 'तू विरह का विष प्राप्त करके तन की सुध-बुध भूल गया, और विश्वासघात करके स्वेच्छाचारिता बर्ती। हे मन, तूने क्या प्रेम को कोई खेल समझ रखा था? अब इस वियोग की अग्नि में तू अच्छी तरह प्रदग्ध होगा। अच्छा हुआ, (व्यंग्योक्ति) जो तुम्हें विरहोद्वेग का दुख बरछे के समान पीड़ा दे रहा है। इस प्रकार अचानक वियोग-ढेले के लगने से समस्त सुख पक्षी की भाँति तुरंत ही उड़ गए।

---

१ घनानन्द और स्वच्छंद काव्याधारा—डॉ० मनोहरलाल गौड़, पृ० ३२६।

वे (प्रिय) तो रुचि के राजा अर्थात् मनमानी करने वालों के सम्राट हैं, केवल उनके देख लेने से क्या होता है, तुम (मन) ने उन (प्रेमी) के देखने को ही प्रेम करना समझ लिया था यह ठीक नहीं हुआ।' इस प्रकार के अनेक भावपूर्ण और मार्मिक छन्द मिलेंगे जिनमें कवि ने मन को मानवीकृत (Personified) रूप में प्रस्तुत किया है।

प्राण

मन से अलग प्राण के संबन्ध में भी कवि ने कई सुन्दर छंद लिखे हैं। विरह में सर्वाधिक प्राण, नेत्र आदि ही दुखी हुआ करते हैं। यह वर्णन कभी छंदों के बीच-बीच में हुआ है और कभी समस्त छंद का विषय विरह-व्याकुल प्राण को मानकर किया गया है। विरह से अत्यधिक दुखी प्राण के लिए "एक बिसास की टेक गहें लगि आस रहे बसि प्रान बटोही' कहा गया है। 'प्रान बटोही' से यह स्पष्ट है कि अब तक प्राणरूपी राही चला ही जाता किंतु 'बिसास' (विश्वास) की टेक को ग्रहण करने के कारण ऐसा नहीं किया उसने। वियोगी प्राण को लेकर लिखा गया एक छंद देखिए :—

"प्रान-पखेरू परे तरफैं लखि रूप-चुगो जु फँदे गुन-गाथन।
क्यौं हतियै हित पालि सुजान दया बिन व्याध-बियोग के हाथन।
सालत बान समान हियें सु लहे घनआनंद जो सुख साथन।
देहु दिखाय दई मुखचंद लग्यौ अब औधि-दिवाकर आथन।।"

प्रेमी कहता है, हे प्रिय, 'ये मेरे प्राण-पक्षी तुम्हारे गुण-गाथाओं के जाल में रूप-चारा को खाकर फँस गये हैं। प्रेम से इनका संपोषण करके क्यों अब इनका वियोग-व्याधि के हाथों से निर्दय होकर वध करते हो। संयोगावस्था के समस्त सुख अब वाण के समान हृदय में लगकर पीड़ा दे रहे हैं। हे प्रिय, अब बहुत दिन हुए अवधि समाप्त होने को आई है इस कारण अवश्य ही अब अपना मुख-चंद्र इसे (प्राण) दिखला दीजिए।'

नेही की रहनि

कवि की स्वानुभूतिगत विरह-भावना ने वियोग से संबंधित कई मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। 'नेही की रहनि' एक ऐसी ही नवीन वस्तु है। घनआनंद के अनुसार प्रेमी वही है जिसे तीव्र विरहानुभूति होती है। इस कारण इसे 'विरही की रहनि'[1] न कहकर कवि के शब्दों में 'नेही की रहनि' ही कहना चाहिए। यहाँ नेह का अर्थ ही है—विरही प्रेमी। 'नेही की रहनि' के सम्बन्ध में कवि का कथन है :—

१—घनानन्द और स्वच्छंद काव्यधारा—डॉ० मनोहरलाल गौड़, पृ० ३२७।

"अंतर उदेग-दाह, आँखिन प्रवाह आँसू,
देखो अटपटी चाह भीजनि दहनि है।
सोइबो न जागिबो हो, हँसिबो न रोइबो हू,
खोय-खोय आप ही मैं चेटक-लहनि है।
जान प्यारे प्रानिनि बसत पै अनंदघन,
बिरह-बिषम-दसा मूक लौं कहनि है।
जीवन-मरन, जीव मीच बिन बन्यौ आय,
हाय कौन बिधि रची नेही की रहनि है।।"

कवि 'नेही की रहनि' के संबंध में कहता है कि जिसके 'हृदय में उद्वेग की जलन है आंखों में आंसुओं का प्रवाह है, जो विलक्षण रूप से भीगता और जलता दोनों एक साथ ही है, जो न सोता है न जागता है, जो न हँसता है न रोता है वरन् इसके बदले अपने आप में खोकर जादू करनेवाली जैसी दृष्टि भ्रमोत्पन्नता का लाभ करता है तथा इतना होने पर भी जिसके प्राणों में वह (प्रिय) समाया हुआ है फिर भी वह (प्रेमी) विरह की विषम-दशा को पूर्णतया नहीं व्यक्त कर पाता, जो प्राण के बिना ही जीता और मृत्यु के बिना ही मरता है, हाय, ऐसे प्रेमी के रहने के ढंग को न जाने ब्रह्मा ने कैसे विलक्षण ढंग से बनाया है।'

कवि की समस्त वियोग-दृष्टि को सहृदय पाठक उसके द्वारा वर्णित 'नेही की रहनि' का मनन करके जान सकता है।

उन्माद

साहित्यशास्त्रियों ने उन्माद को वियोगकालीन एक मानसिक अवस्था के रूप में लिया है जिसकी पुष्टि मनोवैज्ञानिक रूप से भी हो जाती है। घनआनंद में इस प्रकार के शास्त्रसंमत वियोग-वर्णनों की कमी नहीं है किन्तु मैं सभी ऐसी स्थितियों को यहां स्थानाभाव के कारण न दिखला कर केवल उन्हीं के संबंध में कुछ कहने का प्रयास करूंगा जो कवि की वियोग-वेदना की काव्यात्मक विवृत्ति करते हैं। उन्माद से संबंधित वर्णन का एक सुन्दर उदाहरण लीजिए :—

"खोय दई बुधि सोय गई सुधि, रोय हँसै उनमाद जग्यो है।
मौन गहै, चकि चाकि रहै, चलि बात कहै तें न दाह दग्यो है।
जानि परै नहि जान ! तुम्हैं लखि ताहि कहा कछु आहि खग्यो है।
सोचनि ही पचियै घनआनँद हेत पग्यो किधौं प्रेत लग्यो है।"

उन्मादावस्था की अभिव्यक्ति स्पष्ट है कि वियोग के कारण प्रेमी की 'बुद्धि खो

गयी है, स्मृति नष्ट हो गयी है। मौन धारण कर वह कभी रोता है कभी हँसता है और कभी चौंक कर देखने लगता है। चलते-चलते बातें करता है। लगता है कि वह प्रेम में पगा है कि भूत लग गया है।'

सांगरूपकों के सहारे विरह-वर्णन

घनआनंद ने अन्य महाकवियों की भांति ही कतिपय ऐसे उत्कृष्ट छन्दों की रचना की है जिनमें किसी वस्तु विशेष को लेकर उसके समस्त उपकरणों के रूप में विरह-वेदना को देखा है। कवि के इस प्रकार के वर्णनों के लिए एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि वह विरह-वर्णन के लिए रूपक (सांग) रूप में अलंकार का आधार अवश्य मानता है किंतु वर्णन में प्रधानता है भावनात्मकता अथवा भावव्यंजना की ही। मीन, पतंग चकोर-चंद, पपीहा-बादल, कटक, बधिक, सांपिनि आदि उपमानों को विरह के विभिन्न वर्ण्य विषयों के लिये अपनाया गया है। रससिद्ध कवि की लेखनि जब अलंकारों को काव्याभि-व्यक्ति का साधन बनाती है तब भी वह भाव-प्रधान चित्रों का ही अंकन करती है—वहां अलंकार भी भावव्यंजना के उपकारक अथवा सहायक बनकर ही आते हैं। दो सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। निम्नोद्धृत उदाहरण में प्रेमी की विरह-दशा को सावयव पतंग के रूप में रखकर देखा गया है। देखिए :—

"आस ही आकास-मधि अवधि-गुनै बढ़ाय,
चोपनि चढ़ाय दीनौ, कीनौ खेल सो यहै।
निपट कठोर ये हो ऐंचत न आप-ओर,
लाड़िले सुजान सों दुहेली दसा को कहै।
अचिरज मई मोंहि भई घनआनँद यौं,
हाथ साथ लाग्यौ, पै समीप न कहूँ लहै।
बिरह-समीर की झकोरनि अधीर, नेह—
नीर भीज्यौ जीव, तऊ गुड़ी लौं उड़्यौ रहै।"

प्रेमी कहता है कि हे प्रिय, "आपने आशा-रूपी आकाश में अवधि (आने का वदा समय) रूपी डोर बढ़ा दिया है और बड़े ही चाव से ऐसा करके (गुड़ी रूप जीव) को और ऊपर चढ़ा दिया है—ऐसा कर आपने तो इसे गुड़ी का खेल-सा बना दिया है। अत्यंत कठोर होने से आप अपनी ओर उसे (जीवरूप गुड्डी) नहीं खींचते। इस प्रकार प्रिय से न मिलने के कारण जो मुझे दुख हो रहा है उसे प्रिय सुजान से कौन कहे। मुझे (प्रेमी) तब और आश्चर्य होता है जब जीवरूपी गुड्डी के साथ उड़ायक रूप प्रिय का हाथ बराबर लगा रहता है फिर भी वह पतंग अपने उड़ायक को कहीं अपने समीप नहीं पाती। विरह-

वायु के झोंकों से अधीर होकर आंसू से भीगी रहने पर भी गुड़ी की भांति यह जीव उड़ता रहता है।" वैसे इस छन्द में विरोधाभास, विभावना नामक अलंकार भी आये हैं किंतु सब मिलाकर इसमें उपमामिश्रित सांग रूपक अलंकार की ही प्रधानता है। इसी प्रकार का कवि ने एक सावयव रूपक अलंकार के माध्यम से वियोग का सुन्दर वर्णन किया है—

"अधिक बधिक ते सुजान, रीति रावरी है,
कपट-चुगो दै फिरि निपट करो दुरी।
गुनुनि पकरि लै, निपांख करि छोरि देहु,
मरहि न जियै, महा विषम दया-छुरी।
हौं न जानौं, कौन धौं, ही या मैं सिद्धि स्वारथ की,
लखी क्यौं परति प्यारे अंतर-कथा दुरी।
कैसे आसा-द्रुम पै बसेरो लहै प्रान-खग,
बनक निकाई घनआनँद नई जुरी।।"

इसमें भी प्रेमी प्रिय की तुलना एक वधिक के रूप में की गयी है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण कवि की कृतियों में प्रायश: देखने को मिल जाते हैं।

पाती (पत्र)

विरह-वर्णन की एक परंपरा के रूप में वियुक्त प्रेमी अपने प्रिय को पाती' (पत्र) लिखता आ रहा है। कवि-श्रेष्ठ घनआनंद के काव्य में भी इस प्रकार का वर्णन मिलता है। प्रेमी प्रिय के पास पत्र लिखता है किंतु वियोग-वेदना की निर्बलता के कारण वह ठीक से पत्र-लेखन का कार्य नहीं कर पाता। देखिए :—

"पाती-मधि छाती-छत लिखि न लिखाए जाहिं,
काती लै विरह घातो कीने जैसे हाल हैं।
आँगुरी बहकि तहीं पाँगुरी किलकि होति,
ताती राती दसनि के जाल ज्वाल-माल हैं।
जान प्यारे जौऽब कहूँ दीजिए सँदेसो तौऽब,
आवा सम कीजियै जु कान तिहि काल हैं।
नेह-भीजी बातें रसना पै उर आँच लागें।
जागें घनआनँद ज्यौं पुंजनि मसाल हैं।।"

यह वर्णन अन्य वर्णनों की अपेक्षा परंपरा का पालन अधिक करता है क्योंकि रीतिमार्गी कवि भी अपने प्रेम-पात्रों से इसी प्रकार की लड़खड़ाती अंगुलियों से प्रेम-पत्र

लिखवाते थे, किन्तु वियोग-वेदना में झुलसी वह नायिका पूरा पत्र लिख कहाँ पाती थी ? वही यहाँ भी किया गया है ।

दूतत्व

संस्कृत और हिन्दी दोनों ही साहित्यों में वियोग-वर्णन के प्रसंग में 'दूत-प्रेषण' की एक लंबी परंपरा थी । दूतत्व कर्म के लिए पवन, मेघ, हंस, काग, तोता, कबूतर, मैना, भ्रमर, और मानव आदि को चुना जाता था । इनमें से अधिकतर अब तक पक्षियों पवन, मेघ आदि अमानवीय प्रकृति को ही संदेशवाहक के रूप में चित्रित किया गया गया है । वियुक्त प्रेम-पात्र अपनी घनीभूत वेदना के समय 'दूत' से प्रिय के प्रति 'संदेश' कहलाकर ही राहत का अनुभव करता होगा । कालिदास का मेघदूत, कविवर धोयी का पवनदूत, जायसी का भ्रमर और काग-दूत तथा सुआदूत, सूर तथा अन्य अनेक हिन्दी कवियों के भ्रमरदूत वियोग में 'दूतत्व' की इस परंपरा को चलाते आ रहे हैं। घनआनन्द ने भी इसी परंपरा में लिखा है । देखिये प्रेमी बादल से प्रार्थना करता हुआ कवि क्या कहता है:-

''परकारज देह को धारे फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ ।
निधि-नीर सुधा के समान करौ सबहीं बिधि सज्जनता सरसौ ।।
घनआनन्द जीवनदायक हौ कछु मेरियौ पीर हिये परसौ ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मों असुवांन को लै बरसौ ।।'

प्रेमी सर्वप्रथम विनय-भरे शब्दों में 'परजन्य' का स्तवन करता हुआ कहता है कि हे बादल, तुम परोपकार के लिए ही शरीर धारण किए हो । समुद्र के खारे जल को वर्षा कर अमृतवत् कर देते हो —इस प्रकार सभी प्रकार से अपनी सज्जनता दिखाते हो । यही नहीं, तुम तो जीवनदायक भी हो इस कारण (मुझ जीवन-विरहित) कुछ मेरी पीड़ा के प्रति भी सहानुभूति दिखलाओ —कि कभी (फुरसत से) उस विसासी' सुजान के आँगन में मेरे आँसुओं को ले जाकर वर्षा दो ।

यह है भावना की कोमलता और कवि की उत्कृष्ट कल्पना। इस पद्य का उत्स निम्नलिखित कालिदास का श्लोक लगता है—भावों की तुलना करने पर घनआनन्द का छंद कालिदास से कुछ अधिक वजनी और गंभीर जान पड़ता है। तुलना कीजिए:—

''संतप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियाया:
संदेशं मे हर धनपति क्रोध विश्लेषितस्य ।

गंतव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणाम् ।।
वाह्योद्यान :स्थित हरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ।।"

उक्त छंद में प्रेमी की ओर से प्रिय के पास मेघदूत गया है और एक अन्य छंद में प्रिय की ओर से प्रेमी के पास भी संदेशवाहक पाती लेकर आया है ।देखिये:—

"जहाँ ते पधारे मेरे नैननि ही पाँव धारे,
वारे ये विचारे प्रान पैंड़ पैंड पै मनो ।
आतुर न होहु हा हा नेकु फेंट,छोरि बैठो,
मोंहि वा बिसासी को है व्यौरो बूझिवो घनो ।
हाय निरदई कों हमारी सुधि कैसें आई
कौन बिधि दीनो पाती दीन जानि कै भनो ।।

प्रिय-ध्यान

गंभीर और एकनिष्ठ प्रेम-वियोग प्रेमी को प्रिय के ध्यान में उसी प्रकार निमग्न रखता है जिस प्रकार एक भक्त भगवान् के ध्यान में तल्लीन और तद्गत रहता है। घनआनन्द ही नहीं वरन् समस्त रीतिकालीन स्वच्छंदमार्गी कवियों के प्रेम-पात्र वियोग की इसी गंभीर ध्यानमयता को लेकर समक्ष आते हैं—इसके विपरीत जैसा कि इसके पूर्व दिखाया जा चुका है—रीतिमार्गी कवि अनुभूति के अभाव में ऊहा के अधार पर व्यभिचारी प्रेम-वियोग की कल्पना करते हैं जिनको पढ़कर रही-सही सरसता भी गायब हो जाती है; यह दूसरी बात है कि छंद-बंधान और अलंकार-विधान आदि के लिए हम उनकी प्रशंसा कर दें। विरह में प्रिय का ध्यान करते-करते जब प्रेमी प्रियमय हो जाता है तब वह स्वयं (प्रेमी) के लिये तड़पने लगता है। सूरदास की राधा का यही हाल है—कृष्ण-वियोग में कृष्ण का ध्यान करते-करते जब वह (राधा) कृष्णमय हो गयी तब अपने को कृष्ण समझ कर राधा के वियोग में राधा-राधा करने लगी। विरह की यही दुहरी स्थिति विद्यापति के राधा में भी पायी जाती है। घनआनन्द ने भी विरह-जनित ध्यान का बड़ा मनोविज्ञानसम्मत् सहज, सरल एवं मार्मिक वर्णन प्रस्तुत किया है।

एक उदाहरण देखिये:—

'घेर्यौ घट आय अंतराय-पटनि-पट पै,
ता मधि उजारे प्यारे फानुस के दीप हो।

लोचन-पतंग संग तजै न तौऊ सुजान,
प्रान-हंस राखिबे कौं भरे ध्यान-दीप हो।
ऐसें कहौ कैसें घनआनंद 'बताऊँ' दूरि,
मन-सिंघासन बैठे सुरत-महीप हो।
दीठि-आगै डोलौ जौ न बोलौ कहा बस लागै,
मोहि तौ बियोग हूँ मैं दीसत समीप हो॥"

अर्थात् "प्रिय का ध्यान वियोग की बहुत बड़ी सांत्वना है। प्रिय दूर रहे फिर भी ध्यान के बल से वह निकट ही निकट दिखाई देता है। प्रेमी ने वियोग के अनेक व्यवधानों में ध्यान द्वारा प्रिय को फानूस का दीपक बनाकर हृदय में रख लिया है। नेत्र पतंगों के समान इसके आस-पास मडराते हैं। इस प्रकार मन के सिंहासन पर विराजमान् रहते प्रिय दूर नहीं कहा जा सकता। दुख यही है कि वह हृदय के आगे-आगे डोलता है पर बोलता नहीं।"[१]

इसके अतिरिक्त वियोगोत्पन्न ध्यान का चरमोत्कर्ष वहाँ दिखलाई पड़ता है जहाँ प्रेमी को प्रिय निखिल सृष्टि में व्याप्त दिखलाई पड़ता है। ऐसे कौन स्थल हैं जहाँ प्रिय न हो ?

"प्रेम के पाले परै जिय जाको धरै कल क्यौं अकुलानिमई है।
दीसत देखौ दसौ दिसि प्रीतम कौन अनूठियै ठान ठई है।
यौं घनआनन्द छाय रह्यौ तब लाज सम्हारै सु बीति गई है।
जाहु कहाँ अहो नाहीं नहीं तुम ही सों जहाँ तहाँ भेंट भई है॥"

कवि का अटूट विश्वास है कि 'प्रेम के पाले पड़ जाने पर वह कल कैसे पा सकता है। वह तो व्याकुल होने को मजबूर है। (सच्चे) विरही को प्रियतम दसों दिशाओं में दिखायी पड़ता है। इस प्रकार इस छंद से ध्यान की गंभीरता और उससे प्रिय के स्मृति बिम्ब (Memory Image) का मानसिक-मिलन स्पष्ट है। इस प्रकार के ध्यानात्मक वियोग वर्णन घनआनंद की रचनाओं में जगह-जगह पाये जाते हैं।

आध्यात्मिक विरह

जैसा कि डॉ० मनोहरलाल गौड़ ने लिखा है कि "ध्यान के कारण ही विरह के वर्णन में आध्यात्मिक भावों का रहस्यवाद की शैली से यत्र-तत्र आभास मिलता है। ध्यान-प्रवण वियोगी अपने हृदय-देश में जब प्रिय के दर्शन करता है तो पूज्य बुद्धि के सहारे प्रिय में परमेश्वर की अंतर्यामिता तथा व्यापकता का वर्णन समासोक्ति पद्धति से हो जाता है। प्रिय का ध्यान प्रस्तुत है, परमेश्वर की भावना अप्रस्तुत। वस्तु मर्यादया

भी विरही भावना के लोक में इतना ऊँचा चढ़ जाता है कि उसे प्रिय तथा परमेश्वर का अभेद प्रतीत होने लगता है।''¹

एक उदाहरण लीजिए:—

"अंतर मैं बासी पै प्रबासी को सो अंतर है,
मेरी न सुनत दैया आपनीयौ ना कहौ।
लोचननि तारे व्है सुझावौ सब सूझौ नाहिं,
बूझौ न परति, ऐसे सोचनि कहा दहौ।
हौ तौ जानराय, जाने जाहु न अजान या तें,
आनँद के घन छाय छाय उघरे रहौ।
मूरति मया की हा हा सूरति दिखैयै नेकु,
हमैं खोय या बिधि हौं कौनधौं लहा लहौ॥"

अर्थात् हे प्रिय, "आप अन्तर में बसे हो किंतु प्रवासी के समान अन्तर बना रहता है। इस प्रकार न तो आप अपनी कहते हो और न मेरी ही सुनते हो। यद्यपि तुम नेत्रों के तारे होकर निर्देशित करते हो किन्तु कुछ सूझता नहीं है। आपका नाम यद्यपि जानराय है किन्तु जानने में नहीं आते इस नाते अजान हो। हे आनंद के घन, छा छा कर उघर जाते हो। अपनी कृपा-मूर्ति दिखलाइए-ऐसा न करने पर हमें खो दोगे तब आपको इससे क्या लाभ होगा।"

घनआनंद-द्वारा पूर्ववर्ती विरहानुभूति की आलोचना

घनआनन्द ने विरह का इतने दृष्टिकोणों और आयामों (Dimensions) से वर्णन किया है कि विभिन्न उक्त शीर्षकों के अन्तर्गत उन सभी का समावेश इतने थोड़े विस्तार में कर पाना संभव नहीं हो सका। इसके अतिरिक्त आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने व्याख्यासहित दो छन्द 'घनआनन्द और स्वच्छंद काव्यधारा' नामक शोध-ग्रन्थ की भूमिका में दिये हैं जिसकी सुन्दर विवेचना और व्याख्या का लोभ संवरण न न कर पाने के कारण उनको यहां उद्धृत करता हूँ। ये छन्द मुख्यत: वही है जिनमें कवि ने परम्परा से चले आते हुए वियोग-वर्णन-प्रणाली की आलोचना प्रस्तुत कर विरहानुभूति सम्बन्धी अपनी व्यापक, सूक्ष्म तथा तलस्पर्शिनी स्वानुभूति का परिचय दिया है। "प्रिय के वियोग में जो कष्ट हो रहा है, वह कष्ट, वह वेदना, कालावच्छिन्न है। जिस समय वह पीड़ा सही जा रही है उस समय जैसी व्यथा हो रही है, उसके अनन्तर फिर किसी दिन या किसी रात में जब उसकी अनुभूति की जाएगी तो वैसी अनुभूति नहीं हो सकेगी।

१. घनआनंद और स्वच्छंद काव्य धारा। पृ० ३२६-२७।

जिस समय अनुभूति हुई उसी समय अनुभूति का वह प्रकृत रूप अनुभूत था। उसके अनन्तर स्वयं अनुभव करनेवाला भी चाहे तो उसका वैसा ही अनुभव नहीं कर सकता। स्मृति के समय उस विरहानुभूति का प्रकृत रूप कथमपि अनुभूत नहीं हो सकता। जिसका अनुभव ही पुनः नहीं किया जा सकता उसे वचनों के द्वारा कहना तो और भी कठिन है। अनुभव करने वाले को ही कहना हो तो भी वह कुछ कह सके। अनुभव हृदय में और कहना जीभ को। भला जीभ उसे क्या कह सकेगी? मूलतः अनुभूत दशा और कथित रूप में दिन और रात का अन्तर हो जाता है।

जहाँ अनुभूति की यह स्थिति हो उस मनुष्य के संयोग और वियोग को पतंग और मीन से मिलाना घनआनन्द को असहृदयता जान पड़ती है। + + + + रीतिकाल के शास्त्र परम्परानुयायी "बिछुरनि मीन की औ मिलनि पतंग की," को आदर्श मानते थे। घनआनन्द ने इसी से इसका खंडन किया है।"[१]

"मरिबो बिसराम गनै वह तौ यह बापुरी मीत-तज्यौ तरसै।
वह रूप-छटा न सहारि सकै यह तेज तवै चितवै बरसै॥
घनआनन्द कौन अनोखी दसा मति आवरी बावरी व्है थरसै।
बिछुरे-मिलें मीन-पतंग-दसा कहा मो जिय की गति को परसै॥"

'कहाँ तो 'बिछुरें-मिलें मीन-पतंग-दसा' को कोई आदर्श दशा, सबसे ऊँची दशा, मान रहा है। आदर्श वही होता है जहाँ तक सामान्यतया पहुँचा न जा सके। मीन और पतंग की साधना दूसरों की दृष्टि में चाहे जितनी ऊँची हो, पर घनआनन्द की दृष्टि में वह इतनी नीची है कि मनुष्य की संयोग-वियोग-साधना का स्पर्श भी नहीं कर सकती, बराबर होना तो दूर, ऊँचो होना असम्भव। उसके लिए तो तर्क देते हैं कि मीन तो प्रिय से वियुक्त होते ही मरण में विश्रांति लेता है, पर मनुष्य प्रिय से वियुक्त होने पर उसके लिए बराबर तरसता रहता है। अन्यों ने अन्तर यह समझ रखा है कि मीन प्रिय के वियोग में मर जाता है और मनुष्य मरता नहीं इसलिए उसका विरह घटकर है। स्थिति यह है कि विरही मरण से बढ़कर पीड़ा सहता रहता है और इस आशा में जीता है कि प्रिय से भेंट होगी। पर मीन तो मरा और कष्टों से उसे छुट्टी मिली। उसमें पीड़ा के सहने की शक्ति नहीं, वह अशक्त विरही है। उसकी एवं मनुष्य की क्या बराबरी? रहा पतंग। वह प्रिय के रूप को देखकर उसकी छटा से आकृष्ट होकर अपने को संभाल नहीं पाता। ऐसा उतावला मनुष्य नहीं होता। वह प्रिय के रूप-तेज

---

१. भूमिका, घनानन्द और स्वच्छंद काव्यधारा, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा लिखित भूमिका।

से तपता रहता है। फिर भी उसकी रूपछटा देखता रहता है और साथ ही आंसू बरसाता रहता है उसके तेज से तपने और आंसू बरसाने से यह स्पष्ट है कि वह पीड़ा पा रहा है उसकी वेदना पतंग की वेदना से, जो उसे दीपशिखा में जलने से होती है. कहीं बढ़कर है फिर भी वह रूपज्वाला में भस्म होकर शरीर का परित्याग नहीं करता। मीन-जल की साधना भारतीय परम्परा का उदाहरण है और पतंग-दीप का प्रणय फारसी-परंपरा का दृष्टान्त है, शमा-परवाना वहां प्रतीक है। दोनों को सामने रखकर घनआनन्द ने मनुष्य की साधना का महत्व दिखाया है। परम्परा न भारतीय स्वीकृत की न अभारतीय, अपनी स्वच्छन्दता के कारण। पर भारतीय आशावाद का परित्याग नहीं किया। मीन और पतंग की साधना में नैराश्य की झलक है। पर घनआनन्द ने इस नैराश्य को ग्रहण नहीं किया।"[1]

हीन भएँ जल मीन अधीन कहा कछु मो अकुलानि समानै।
नीर-सनेही कों लाय कलंक निरास ह्‌वै कायर त्यागत प्रानै॥
प्रीति की रीति सु क्यौं समझै जड़ मीत के पानि परे कों प्रमानै।
या मन की जु दसा घनआनन्द जीव की जीवनि जान ही जानै॥

"जल के अपर्याप्त होने पर मीन विवश हो जाता है। उसकी वह विवशता मनुष्य की आकुलता का क्या किंचिन्मात्र साम्य कर सकती है? कभी नहीं। प्रेम की साधना में प्राण का परित्याग करना कायरता का चिन्ह है। इससे जल (प्रिय) को कलंक लगता है, मीन (प्रेमी) को कलंक लगता है और उसके प्रेम को कलंक लगता है, मनुष्य विरह-साधना में इस प्रकार का कलंक किसी को नहीं लगने देना चाहता। मीन का प्रिय सच पूछिए तो जड़ है। न प्रिय प्रीति की रीति समझता है और न प्रेमी। जड़ की उपासना करने से मीन भी जड़ हो जाता है। परिणाम यह है कि प्रिय के हाथ में ही वह अपने को समर्पित किये रहता है, उसकी चेतनता प्रिय के जड़त्व में ही विलीन हो जाती है। इसी से वह केवल प्रिय को पाने में छटपटाता हुआ मर जाता है। उसके छटपटाने में क्या कष्ट है इसे जल न पहले समझता था और न उसके छटपटा कर मर जाने पर ही समझता है। पर मनुष्य के विरहजन्य कष्ट का अनुभव उसका प्रिय करता है। प्रत्युत यह कहना चाहिए कि जैसी वेदना प्रेमी को हो रही है ठीक-ठीक उसका अनुभव और कोई नहीं कर सकता, यदि उसकी ठीक अनुभूति किसी और को हो सकती है तो प्रिय को ही। प्रेम की अनुभूति करनेवाला, समान अनुभूति करनेवाला प्रिय यदि आकृष्ट न हो तो विरही के कष्ट का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। मीन-जल और पतंग-दीप में एक पक्ष जड़, दूसरा पक्ष चेतन होने पर भी चेतन-पक्ष वैसी चेतना

१—वही, भूमिका—पृ० १५-१६।

का धारणकर्ता नही है जैसी मनुष्य की होती है। इसलिए मनुष्य की प्रेम-साधना को इनकी प्रेम-साधना से मिलाना मनुष्य का अपमान करना है।''[1]

विरहानुभूति पर विदेशी प्रभाव

भारतीय और अभारतीय वियोग-वर्णन-परम्परा की तुलनात्मक समीक्षा करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि घनआनन्द की विरहानुभूति पर विदेशी प्रभाव पड़ा था। यह प्रभाव था फारसी और सूफियों के वियोग-वर्णन प्रणाली का। कवि-वियोग-वेलि नामक रचना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। भारतीय वियोग-वर्णन के अनुसार विरह-वर्णन में वीभत्स व्यापार की योजना नही की जानी चाहिए। प्रेमी अथवा प्रिय का क्षत-विक्षत होना तथा उन्हें जला-कटा दिखाना पौर्वत्य काव्य-परम्परा के विरुद्ध है। किन्तु घनआनन्द ने इस मान्यता के विरुद्ध वियोग-वर्णन किया है। हिन्दी सूफी कवियों में जायसी ने इसी प्रकार का वर्णन किया है, यथा:—

हाड़ भये सब किंगरी नसें भईं सब ताँति।
रोम रोम से धुनि उठै कहैं बिथा किहि भाँति॥

विदेशी मेल होने के कारण कबीर ने भी ऐसे वर्णन किये हैं जिनमें विदेशी विरह-वर्णन की स्पष्ट झलक मिलती है। किन्तु सूर, तुलसी आदि कवि भारतीय विरह-वर्णन-प्रणाली का समाश्रयण लिया था। इसके विपरीत रीतिमार्गी कवियों ने भी वियोग-वर्णन की इस प्रणाली को अपनाया था। ऐसे कवियों में सेनापति, बिहारी पद्माकर, लछिराम और ग्वाल आदि अनेक कवियों के नाम लिए जा सकते हैं। घनआनन्द ने विरह की सघनता, पुष्टता एवं परिपाक दिखलाने के लिए विदेशी-वियोग-वर्णन का आश्रय लिया है। वियोग में प्रेमी की जो दशा है उसका वर्णन कवि ने निम्नलिखित शब्दों में किया है जो विदेशी वियोग-वर्णन की परम्परा का द्योतक है:—

पाती मधि छाती छत लिखि न लिखाये जाहिं,
कातीं लै बिरह घाती कीने जैसे हाल हैं।
आंगुरी बहकि तहीं पाँगुरी किलकि होति,
ताती राती दसनि के जाल ज्वाल माल हैं।
जान प्यारे जौऽब दीजिए संदेसो तौऽब,
आँवा सम कीजिए ज्काम तिहिं काल हैं।
नेह भींजी बातें रसना पै उर आँच लागै,
जागैं घनआनन्द जौं पुंजनि मसाल हैं।

---

१. वही, भूमिका, पृ० १६

इस छन्द में 'छत छाती' 'कातीलै विरह घाती', 'ताती राती',, 'जाल-ज्वाल', 'आँवा', 'आँच लागै', 'पुँजनि मसाल' आदि पद अथवा पद-समूह विदेशी काव्य पद्धति के प्रभाव के स्पष्ट सूचक हैं। इस प्रकार के अनेक उदाहरण कवि की रचनाओं से उद्धृत किये जा सकते हैं जिनमें उक्त विदेशी काव्य परम्परा का अनुसरण हुआ है।

अभिव्यंजना और उसके प्रसाधन

अ-भाषा

कविवर घनआनन्द की भाषा विशुद्ध व्रजभाषा है। व्रजभाषा जो उस समय की सर्वस्वीकृत काव्य-भाषा थी उसका इतना साफ-सुथरा और प्रांजल प्रयोग किया घन आनन्द ने कि वह अपने समस्त उत्कर्षों के साथ हमारे समक्ष आयी। इसी कारण घन-आनन्द जैसी सुन्दर-स्वच्छ व्रजभाषा अन्य कवि नहीं लिख पाये। उस (भाषा) में क्या नहीं था—वह साहित्यिक, लाक्षणिक, रसानुकूल, व्याकरणिक व्यवस्थानुकूल, संगीतात्मक, ध्वन्यात्मक, मुहावरे एवं लोकोक्तियों से भरी कोमल, सरस तथा सजीव थी। इसी कारण घनआनन्द-काव्य के परम प्रशंसक व्रजनाथ का कहना था 'भाषा-प्रवीन सुछन्द सदा रहै सो घन जी के कवित्त बखानै'। कहना चाहिये कि कवि की भावानुभूति की तीव्रता के कारण ही उसके भाषा-प्रयोग में इतना निखार और अलंकरण आया है क्योंकि यह प्रायः देखा जाता है कि यथार्थ भावानुभूति स्वानुकूल भाषा का निर्माण कर लेती है बशर्ते कि अनुभावक कबीर की भाँति अशिक्षित न होकर सुशिक्षित और सुविज्ञ हो। घनआनन्द भाव और कला (अर्जित) के धनी थे। इसी कारण उनके काव्य में भाव और कला की ऐसी समन्वयात्मकता मिलती है जो हमें हिन्दी के सूर, तुलसी आदि महाकवियों को छोड़कर अन्यों में कतई नहीं दिखायी देती। इस दृष्टि से किसी कवि के भाव की चादर में सिकुड़न है तो किसी के कला की चादर में। भाव और कला की पूर्णता हिन्दी के बहुत थोड़े कवियों में मिलती है। जोरभरे शब्दों में कहा जा सकता है कि समन्वित् कलात्मकता की दृष्टि से घनआनन्द का काव्य अपने समय का अनुपम काव्य है। बिहारी की चर्चा भी इस सम्बन्ध में की जाती है किन्तु ऐसा प्रसंग छेड़ते समय लोग यह भूल जाते हैं कि बिहारी की भाषा में साहित्यिक व्यवस्था के वर्तमान रहते हुए भी उसमें लाक्षणिकता की वह बारीकी की और सूक्ष्मता का अभाव है जिससे भाषा हमारे भावों का बिंवग्रहण करवाती है। घन आनन्द की भाषा, लाक्षणिकता आदि कई साहित्यिक गुणों से सम्पन्न होने के कारण अलग से अपने अध्ययन की पूरी अपेक्षा रखती है। समस्त रीतिमार्गी कवियों की भाषा में भावों की यथार्थ अनुभूति के अभाव में स्वच्छन्द कवियों द्वारा अनभूत भावों का वह क्षण-क्षण में उठने-गिरने वाला द्वन्द्वात्मक प्रभाव नहीं पाया जाता जो मात्र लाक्षणिकता के सहारे ही व्यक्त हो पाता है इस कारण यह कहने में संकोच नहीं कि घनआनन्द की भाषा के

माध्यम से लाक्षणिकता-प्रधान भाषा का हिन्दी में प्रथमावतार हुआ। इसी कारण आचार्य शुक्ल जी ने लिखा था–"लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और प्रयोग-वैचित्र्य की जो छटा उनमें दिखाई पड़ी, खेद है कि वह पौने दो सौ वर्ष पीछे जाकर आधुनिक काल के उत्तरार्द्ध में, अर्थात् वर्तमान् काल की नूतन काव्य धारा में ही, 'अभिव्यंजनावाद' के प्रभाव से कुछ विदेशी रंग लिये प्रकट हुयी।"[१]

भाषा में मिश्रण की समस्या

तत्कालीन कवि काव्य-भाषा में व्रजभाषा शब्दों के अतिरिक्त अन्य प्रदेशीय अथवा देशज तथा विदेशी शब्दों का मेल करते थे। ऐसा मेल जो हमारी भाषा में घुल मिलकर हमारा हो गया था और रोजमर्रा के व्यवहारिक जीवन के प्रयोग का विषय बन गया था भाषा-प्रयोग में उनका आना एक स्वाभाविक और सहज बात थी. उससे हमारी भाषा भी समृद्ध होती थी किन्तु जान बूझ कर अथवा किंचित् अप्रचलित प्रयोगों को भाषा में स्थान देना भाषा-सौंदर्य का विघटक और उसकी स्वाभाविकता का मार्जन करने वाला साबित होता था। इस कारण भाषा-प्रयोग में घनआनन्द ने ऐसा कुछ नहीं किया जो भाषा के उत्कर्ष के बजाय उसका अपकर्ष करे। विदेशी मेल में आने वाले फारसी और अरबी के शब्द व्रजभाषा के उपकारक नहीं कहे जा सकते थे; बिहारी आदि इस चक्कर से अपना पिंड नहीं छुड़ा सके। सम्भवत: इसी कारण कवि ने अपनी 'इश्कलता' नामक रचना के अतिरिक्त-जिसका नाम ही विदेशी काव्य-पद्धति पर रखा गया मालूम पड़ता है—अन्य कहीं भी विदेशी मेल से सम्बन्ध नहीं जोड़ा। हाँ तब भाषा को समृद्ध करने वाले तत्वो में देशज अथवा जनपदीय शब्दावली का महत्वपूर्ण स्थान था इस कारण उनका प्रयोग कवि की रचनाओं में स्थान-स्थान पर किया गया मिलता है। कवि-द्वारा प्रयुक्त ऐसे शब्दों की अर्थ सहित किन्तु लघु सूची नीचे दी जा रही है।

देशज शब्द-मेल

शब्द	अर्थ
सँजोखे	(संझलौका) संध्या के समय
लथेरि	लपेटकर
बरहे	वन
नाज	अनाज

इस प्रकार के अन्य अनेक शब्द कवि की विभिन्न रचनाओं का अध्ययन करने पर प्राप्त होते हैं। कवि ने इन शब्दों का प्रयोग तत्तत् वातावरण अथवा प्रसंग को सजीव और

१ हिन्दी-साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल, पृ० ३३९, पं०सं०

सप्राण करने के लिये ही किया है जिससे उसके भाषाधिकार और व्यापार-वर्णन-पैठ का पता चलता है।

संस्कृत शब्दावली

कवि ने संस्कृत शब्दों को दो रूपों में अपनाया है—प्रथम वे शब्द जो 'भाषा' में भी तत्सम रूप में चले आ रहे थे, जैसे, मीन, कंज, खंजन, प्रान, विष आदि और दूसरे ऐसे संस्कृत शब्द जिनका रूप 'भाषा' में आकर तद्भव रूप धारण कर चुका था, तथा, सुसंतर, अथिर, दुखदाई, वेदनि, उदेग आदि।

कवि-द्वारा नवीन शब्द-निर्माण

प्रतिभा सम्पन्न कवि ही नवीन शब्द-निर्माण करते देखे जाते हैं। घनआनन्द ने निम्नलिखित शब्दों का निर्माण कर अपने को महान् कवियों की श्रेणी में बैठाया।

दिनदानी, भकभूर, अविलोकिवे आदि।

ध्वन्यात्मकता

कलानिपुण और भावुक, प्रतिभशाली कवि ही ध्वन्यात्मक शब्दों का संगत और अभीष्टार्थ प्रदान करने वाले शब्दों का प्रयोग कर पाते हैं। देखिये रास का वर्णन करते हुये कवि ऐसे ध्वन्यात्मक शब्दों का संचयन करता है जिससे वर्ण्य अथवा प्रस्तुत का नितांत ध्वन्यार्थ बोध हो जाता है—

चटक कठतारनि की अति नीको लटक सों नाचै मटक भर्यो मौंहन।
कर चरन न्यास, अभिनय प्रकास, मुख सुख विलास, मम उरझै घुंघरारी भौंहन॥

भाषा को ध्वन्यात्मकता से अभिमण्डित करने के लिये कवि ने सैकड़ों ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो उसके 'भाषा प्रवीन' की उपाधि को सार्थक बताते हैं। इस प्रकार के कतिपय ध्वन्यार्थवाची शब्द हैं-चहकि, चोंप, चुहल, उझिल, भकभूर, घोले, हहरि, झुखनि, घंघोइ, फुलनि और हहरि आदि।

"शब्दावली सर्वत्र एक सी हो रहती है। उनके द्वारा वाक्यरचना प्रतिपाद्य विषय के भेद के कारण भिन्न प्रकार की हो गई है। कवित्त सवैयों तथा पदावली में कुछ रचनाएँ वक्रभाषा में हैं कुछ ऋजु में। कवि को चमत्कार की अभिव्यक्ति जहाँ अभीष्ट होती है वहाँ लक्षणा द्वारा वक्र वाक्यों की रचना करता है। जहाँ वह अनुभूति के मार्मिक रूप व्यक्त करना चाहता है, वहाँ ऋजु वाक्यों का व्यवहार करता है। जहाँ भाव घने और गम्भीर हैं वहाँ समस्त वाक्य आये हैं।"[१]

१—घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा—डॉ० मनोहरलाल गौड़, पृ० १०८

रसानुकूलता

रसानुकूल शब्दों की प्रयुक्ति भाषा की सबसे बड़ी विशेषता होती है। घनआनन्द का प्रमुख वर्ण्य विषय शृंगार रस है। अतएव इस रस-माधुरी के अनुकूल ही कवि ने अपनी भाषा में कोमलकान्त पदावली की अच्छी और सुनिश्चित योजना की है। ब्रजभाषा शृंगार रस की भाषा कही जाती है। घनआनन्द की भाषा इसका आदर्श है। एक उदाहरण देखिए :—

रस आरस मोय उठी कछु सोय लगी लसैं पीक पगी पलकैं।
घन आनन्द ओप बढ़ी कछु औरै सुफैलि फबी सुथरी अलकैं॥
अंगराति जम्हाति लजाति लखें अंग अंग अनंग दिपै झलकैं।
अधरानि में आधियै बात धरैं लड़कानि की आनि परैं छलकैं॥

शब्द-मैत्री

हिन्दी का समस्त रीतिकाल कला का काल था। भाषा परिमार्जन पर खास ध्यान दिया गया है इस काल में। शब्द-मैत्री पर अत्यधिक ध्यान दिया इस काल के कवियों ने। उसे शब्द मैत्री द्वारा यथासंभव सँवारने, सँजाने और परिमार्जित करने का प्रयत्न किया। घनआनन्द की भाषा में भी शब्द-मैत्री अपने अत्युत्कृष्ट रूप में मिलती है। उदाहरणार्थ एक छन्द देखिए :—

सोए हैं अंगनि अंग समोए सुभोए अनंग के अंग निस्यौं करि।
केलि कला रस आरस आसव पान छके घनआनन्द यौं करि॥
पै मनसा मधि रागत पागत लागत अंकनि जागत ज्यौं करि।
ऐसे सुजान विलास निधान हौं सोए जगै कहि ब्यौरियै क्यौं करि॥

इस छन्द की विशेषता यह है कि अनुप्रासों की योजना होते हुए भी भावों की सजीवता और सप्राणता अपने अक्षुण्ण रूप में वर्तमान है जब कि रीतिकवियों की भाषा में ऐसा निर्वाह कठिनता से प्राप्त होता है।

लाक्षणिकता

जैसा कि पहले कहा गया है कि घनआनन्द ने भाषा में लाक्षणिकता का प्रथमावतार किया। कवि ने लक्षणा का नाना प्रकार से प्रयोग किया है जिससे भाषा की अभिव्यंजना शक्ति का विकास हुआ है। कहा जा सकता है कि घनआनन्द के भाषा-प्रयोगों ने ब्रजभाषा को एक वरदान दिया जिससे वह पर्याप्त गतिमती और समृद्ध हुयी है। स्थल-संकोच के कारण लक्षणा से सम्बन्धित विभिन्न प्रयोग नहीं दिखाये जा सकते किन्तु साधारणत: उसके कतिपय उदाहरण बानगी के लिये दिये जाते हैं :—

(१) लड़कानि की आनि परी छलकै
(२) बरसति अंग रंग माधुरी बसन छबि ।
(३) पियराई छाई तन ।
(४) बेदनि की बढ़वारि कहाँ लौं दुराइयै ।
(५) उजरनि बसी है हमारी अँखियानि मैं ।
(६) दीठिहि पीठि दई है ।

मुहावरे

मुहावरों के प्रयोग से भाषा सजीव, सप्राण और गतिमती होती है। घनी और संगुफित भावानुभूति की व्यंजना प्राय: मुहावरों द्वारा ही सम्भव होती है जिसमें लाक्षणिकता और व्यंजना का बहुत कुछ मेल होता है। प्राय: सभी बड़े कवियों ने अपनी भाषा में मुहावरों एवं लोकोक्तियों को इसीलिए स्थान दिया है। घनआनन्द की भाषा भी मुहावरों से पूर्ण होने के नाते काफी गतिमती, प्रवाहपूर्ण और कथ्य का अभिव्यंजनात्मकता से आपूरित है। नीचे कवि की भाषा में पाये जाने वाले कतिपय ऐसे मुहावरों को उद्‌धृत किया जाता है जो अभिव्यंजना अभिवृद्धि में पर्याप्त योग देते हैं। इसके अतिरिक्त मुहावरों के ऐसे प्रयोग कवि भाषा में काव्य-चमत्कार भी कम नहीं लाते। ये मुहावरे बड़े सरल होते हुए व्यंजक और विशेषार्थ के द्योतक प्रतीत होते हैं।

१ कान खोलना—ध्यान से सुनना।

'कबहूँ तो मेरियै पुकार कान खोलि है।'

२ कान में रुई देना—अनसुनी करना, बहटियाना।

"रुई दिये रहोगे कहाँ लौं बहराइबे की।"

३ घाव पर का नमक—अत्यधिक पीड़ा देना।

'आनाकानी दैबो दैया घाव कैसो लोन है।'

४ बाँह पकड़ना—आश्रय में लेना।

दई गहि बाँह न बोरिय जू।

५ मूड़ चढ़ाना—आवश्यकता से अधिक महत्व देना।

पाय डारि कित मूड़ चढ़ावत मदन कौं।

व्याकरणिक व्यवस्था

इसके सम्बन्ध में घन आनन्द साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् डॉ० मनोहरलाल जी गौड़ ने कहा है कि—"आनन्द घन जी के समस्त वाङ्‌मय में निश्चित व्याकरण व्यवस्था विद्यमान् है वह व्यवस्था ब्रजभाषा की है। क्रिया कारकों का रूप-विधान, ध्वनियों का

उच्चारण, तद्भव रूपों का प्रयोग, कृदन्त-तद्धित की व्यवस्था आदि सब भाषा विकास ब्रजभाषा के स्वभाव के अनुसार है। साथ ही समास, नवीन रूप और शब्दों का निर्माण कवि के भाषा सम्बन्धी साधारण विकास के सिद्धान्तों का परिचय देते है।''[१] कवि की भाषा की इसी व्याकरणिक रूप की स्वच्छता और प्रांजलता को देखकर ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था—'यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था वैसा और किसी कवि का नहीं। भाषा मानो इनके हृदय के साथ जुड़कर ऐसी वशवर्तिनी हो गयी थी कि ये उसे अपनी अनूठी भावभंगी के साथ-साथ जिस रूप में चाहते थे उस रूप में मोड़ सकते थे। इनके हृदय का योग पाकर भाषा को नूतन गतिविधि का अभ्यास हुआ और वह पहले से कहीं अधिक बलवती दिखाई पड़ी। जब आवश्यकता होती थी तब ये उसे बंधी प्रणाली पर से हटाकर अपनी नई प्रणाली पर ले जाते थे। भाषा की पूर्व अर्जित शक्ति सेही काम न चलाकर इन्होंने उसे अपनी ओर से शक्ति प्रदान की है। घनानन्द जी उन बिरले कवियों में हैं जो भाषा की व्यंजकता बढ़ाते हैं। अपनी भावनाओं के अनूठे रूप-रंग की व्यंजना के लिए भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करने वाला हिंदी के पुराने कवियों में दूसरा नहीं हुआ।''[२]

अलंकार-विधान

हृदय की अन्तर्दशाओं में ही निमग्न रहने के कारण कवि को अलंकार-विधान के लिए बिल्कुल फुरसत नहीं मिली। उसे तो हृदय की वह अदम्य अनुभूति कहनी थी जो उसे प्रति पल परेशान किये रहती थी। इस कारण कवि की कविता में अलंकार का कोई सुनिश्चित अथवा सुचिन्तित विधान नहीं मिलता है। कवि के अधिकांश उत्कृष्टतम पद्य निरलंकारी भाषा में ही लिखे गये हैं।[१] कवित्त-सवैयों एवं गेय पदों में अलंकारों का प्रयोग किया गया है किंतु वर्णनात्मक प्रबंध नितांत निरलंकारी हैं। इसी कारण कहा गया है कि—"आनन्द घन की रचनाओं में अलंकारों का प्रयोग अत्यल्प है सीधी सरल शैली से मार्मिक भावों को व्यक्त करने वाले पद्य संख्या में अधिक हैं। इन निरलंकार पद्यों में भाव ऐसी सत्यता तथा मार्मिकता से प्रकट हुए हैं कि अलंकार यदि आते तो उनकी उज्ज्वल निश्छलता को मलिन ही करते।"[3]

कवि ने भाव-सहजात रूप में अलंकारों का प्रयोग अधिक किया है। इसके अतिरिक्त कवि की कविता में विरोध चमत्कार 'असंगति' भी कम नहीं दिखाई पड़ती। इसका

१—घनानंद और स्वच्छंद काव्यधारा—पृ० १४४, प्र० सं०।

२—हिंदी-साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पंचमावृत्ति, पृ० ३३६।

३—घनानंद और स्वच्छन्द काव्यधारा—डॉ० मनोहरलाल गौड़ पृ० १६३।

मात्र कारण है कवि की वैषम्यमूलक प्रीति। जैसा कि भाषा के प्रसंग में देखा जा चुका है कि जहाँ कवि अत्यधिक घनी अन्तर्वृत्तियों का निरूपण करने लगता है वहाँ उसमें लाक्षणिकता और जहाँ वैषम्यमूलक प्रेम भावना की अनुभूति करता है वहाँ उसमें विरोध अथवा असंगति का आभास दिखायी पड़ने लगता है। एक ऐसा ही उदाहरण देखिए:—

जड़ बूड़ी जरें, दीठि पाय हू न सूझ करें,
अमी पियें मरें, मोहि अचिरज अति है।
चीर सौं न ढकें, बानी बिन बिथा बकें,
दौरि परें, न निगोडी थकें, बड़ी भूतागति है।

इससे वियोगी के नेत्रों की विरोधाभासमूलक स्थिति का वर्णन स्पष्ट है।

कवि के प्रायः सभी उपमान अनुभूत्यात्मक हैं अर्थात् वे अनुभूति की व्यंजना अधिक करते हैं—यथा, एक जगह कवि ने तरुण-सौंदर्य को 'लहराता हुआ जल' कहा है। कवि के ऐसे उपमान रसानुभूति में अधिक योग देने वाले और मनोविज्ञान सम्मत सिद्ध होते हैं। इसी तरह विरह की व्याकुलता को 'धुएँ की धूंधरि का घुटन' कहा है जो अपने में बहुत ही सटीक और समीचीन लगता है। इससे यह कहा जा सकता है कि घनआनंद के उपमान अपने प्रयोग में निरे व्यक्तिगत और परम्परा व परिपाटीबद्ध उपमानों से विल्कुल अछूते हैं। कवि ने प्रेम को गंठीला फन्दा कहा है। जिस प्रकार फंदे को खोलते समय हम उलझ जाते हैं उसी प्रकार स्नेह अथवा प्रेम-रूप गठीले फंदे को खोलते समय हमारा उलझ जाना स्वाभाविक है। ये सभी उपमान भाव-सहजात हैं। शायद इसी प्रकार के अप्रस्तुत उस (कवि) की भाव-संकुलता को सबसे अधिक व्यक्त कर पाते होंगे—

दुख धूम की धूंधरि मैं घनआनंद जौ यह जीव घिरयौ घुटि है।

इसके अतिरिक्त कवि की कविता में कतिपय ऐसे भी छन्द मिल जाते हैं जिनमें रीतिमार्गी कवियों की भाँति कल्पना प्रसूत अलंकारों का व्यवहार किया गया है यथा—

घेर्‌यौ घट आय अन्तराय पर निपट पै,
ता मधि उजारे धारे फानुस के दीप हो।

कवि की कविता में प्रयुक्त कतिपय प्रसिद्ध अलंकारों के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं।

अ—यमक

काहू कलपाय है सु कैसें कल पाय है।

यहाँ 'कलपाय' शब्द के दो अर्थ हैं—१—तड़पाना और २—राहत पाना।

ब—अनुप्रास

बंक बिसाल रंगीले रसाल छबीले कटाछ कलानि मैं पंडित।
सांवल सेत निकाई निकेत हियौ हरिलेत है आरस मंडित।

स—श्लेष

मित्र अंक आएँ जोति जालनि जगत है।

यहाँ 'मित्र' एक ही शब्द का दो अर्थ है—दोस्त और भानु।

द—प्रतीप

तेरे आगे चन्द्रमा कलंक सो लगत है।

य—अतिशयोक्ति

रोम रोम रसना व्है लहै जो गिरा के गुन।
तऊ जान प्यारी निबरैं न मैन आरतें।

फ—उपमा

मन पारद कूप लौं रूप चहै उमहै सुरहै नहि जेतो गहौं।

घ—उत्प्रेक्षा

अंग अंग तरंग उठै दुति की परिहैं मनो रूप अबै घर च्वै।

ट—सांग रूपक

रस सागर नागर स्याम लखें अभिलाखनि धार मंझार बहौं।
सु न सूझत धीर को तीर कहूँ पचि हारि कै लाज सिवार गहौं।
घनआनंद एक अचंभो बड़ो गुन हाथ हूँ बूड़ति कासौं कहौं।

ठ—संदेह

सीमा सुमेरु की संधि तटी किधौं मान मवास गढ़ास की घाटी।
कै रसराज प्रवाह को मारग वेनी बिहार सो यों दृग दाटी।
काम कलाधर ओपि दई मनो प्रीतम प्यार पढ़ावन पाटी।
जान की पीठि लखें घनआनंद आनन आनतें होति उचाटी।

थ—अर्थान्तरन्यास

पीर मर्‌यो जिय धीर धरै नहिं कैसें रहै जल जाल के बांधे ।

ध—विरोधाभास

बदरा बरसै रितु मैं घिरि कै नित हो अँखियां उघरी बरसैं ।
× × × ×
झूठ की सचाई छाक्यौ त्यौं हित कचाई पाक्यौ ।
ताके गुन गन घनआनंद कहा गनौ ।
× × ×
देखिये दसा असाध अँखिया निपेटनि की,
भसमी बिथा पै नित लंघनि करति हैं ।
× × ×
घनआनंद छावत भावत हौ दिन पारि इतै उतरातें पढ़ैं ।

- इस क्षेत्र में महाकवि घनआनन्द के कतिपय नवीन प्रयोग किये हैं जैसे चेतनाहीन वस्तुओं में चैतन्यता का अरोप । लगता है[1] कि यह कवि के विदेशी प्रभाव का परिणाम था । यथा : –

तरसि तरसि प्रान जान मनि दरस कौं,
उमहि उमहि आनि आंखिनि बसत हैं ।
विपम विरह के बिसिख हिय घायल है
गहवर घूमि-घूमि सोचनि ससत है ।
निसिदिन लालसा लपेटे ही रहत लोभी
मुरझि अनोखी उरझनि में गसत है ।
सुमरि सुमरि घनआनन्द मिलन सुख
कटनि सों आसा पट कटि लै कसत है ।।

प्राण और नेत्र दोनों ही पर यहां कवि ने चेतना को आरोपित किया है ।

छंदयोजना

कविवर घनआनन्द ने अपनी रचनाओं में कवित्त, सवैया, सुमेरु, दोहा, सोरठा, अरल्ल अथवा प्लवंगम, ताटंक, निसानी, शोभन, त्रिभंगी छन्दों का प्रयोग किया है ।

---

१ घनानंद और स्वच्छंद काव्यधारा—डॉ० मनोहर लाल गौड़, पृ० १८५ ।

सवैया

सवैया के प्रयोग में घनआनन्द ने सुरुचि औरविविधता का परिचय दिया है। सवैये लगभग सभी प्रसिद्ध भेदों–दुर्मिल, मत्तगयंद, किरीट, अरसात का प्रयोग किया है। इनका प्रयोग शृंगार रस की रचनाओं के लिए किया गया है। "आनन्दघन के सवैये अधिक संख्या में ऐसे ही हैं, जो अत्यंत कोमल शब्दावली में लिखे गये हैं और जिनमें संगीत की मधुर गूंज उत्पन्न होती है। समस्त छंद में एक भी प्रतिकूल या कठोरवर्ण नहीं आता। यति का अवसान भी प्रायः शब्द के मध्य में नहीं आता।"[1] इसके उदाहरण के लिए निम्नोक्त सवैया देखिए :—

कंत रमै उर अंतर में सु लहै नहिं क्यों सुख रासि निरंतर।
दंत रहैं गहैं आंगुरी ते जु वियोग के तैह तचे परतंतर।
जो दुख देखति हौं घनआनन्द रैनदिना बिन जान सुतंतर।
जानैं वेई दिनराति बखानैं तें जाय परे दिन राति को अंतर।

कवि ने प्रायः कोमल और प्रसिद्ध शब्दों का ही प्रयोग छंदों में किया है खासकर सवैया छन्द में। कहा जा सकता है कि कवि का सवया अधिक सफल हैं कवित्तों की अपेक्षा। कविवर नरोत्तमदास की सरसता और मतिराम की कोमलता घनआनन्द के सवैयों में प्राप्त होती है। इन समस्त उत्कृष्ट गुणों से पूर्ण एक निम्नोद्धृत सवैया देखिए :—

रावरे रूप की रीति अनूप नयो नयो लागत ज्यौं ज्यौं निहारियै।
त्यौं इन आँखिन बानि अनोखी अघानि कहूँ नहिं आन तिहारियै।
एक ही जीव हुतो सु तौ वार्‌यो सुजान सकोंच औ सोच सहारियै।
रोकी रहै न, दहै घनआनन्द बावरी रीझ के हाथनि हारियै।।

कवित्त

अन्य कवियों के कवित्तों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि घनआनन्द के कवित्त अत्यधिक कोमल और सरस तथा सजीव हैं। इस दृष्टि से नीचे का एक मनहरण कवित्त देखिये :—

लाजनि लपेटी चितवनि भेंद भाय भरी,
लसति ललित लोल चख तिरछानि मैं।
छवि को सदन गोरो बदन रुचिर भाल,
रस निचुरत मीठी मृदु मुसक्यानि मैं।

दसन दमक फैलि हियें मोती माल होति,
पिय सों ललकि प्रेम पगी बतरानि मैं।
आनन्द को निधि जगमगति छबीली बाल,
अंगनि अनंग रंग, ढरि मुरि जानि मैं।

इस छंद में यति का निर्वाह बड़ी सफलता पूर्वक किया गया है।

कवि ने सुमेरु नामक छंद का प्रयोग अपनी रचना, बियोग वेलि' में किया है। यह छंद वैसे करुण और विरह के भावों का चित्रण करने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त माना जा सकता है। यह मात्रिक छंद है जिसमें बारह मात्राएं होती हैं।

एक उदाहरण--

सलोने स्याम प्यारे क्यों न आवौ।
दरस प्यासी मरें तिनकों जिवावौ॥

अरल्ल अथवा प्लवंगम

इसका प्रयोग कवि ने 'प्रेम पत्रिका' नामक रचना में किया है। प्राय: यह छंद हलके-फुलके भावों के चित्रण के ही अनुकूल होता है। इसमें कुल २१ मात्राएँ होती हैं। इसका एक अन्य रूप त्रिलोकी भी है।

ताटंक

'इश्कलता' नामक रचना में कवि ने इस छंद का व्यवहार किया है। इस छंद में होली के अनुराग एवं उल्लासमय वातावरण का अच्छा चित्रण किया गया है।

निसानी

इसे उपमान छंद भी कहा जाता है। इश्कलता में भी इसका व्यवहार कवि ने किया है।उदाहरणार्थ:—

क्या कहियै ब्रजमोहना तू मानै नाहीं।
तू ही जानैगा अब अपने दिल माँही।
घनआनन्द नित दीजिए नहि कीजै नाहीं।
अँखियाँ तेंडी चुभि मैंडे दिल माहीं॥

'इश्कलता' नामक रचना में कवि ने कई छंदों का प्रयोग किया है—यथा-अरल्ल, उपमान, ताटंक, और दोहा।

शोभन

इस छंद का नाम सिहका भी है। इसका व्यवहार कवि ने 'गोकुल विनोद' में किया है। यह २४ मात्राओं का छन्द है। उदाहरणार्थ:—

ललित कुसमित फलित बलित बिसाल बेलि तमाल।
परसि नीर समीर बिलुलित भ्रमित मधुकर जाल।

त्रिभंगी

त्रिभंगी के कुल तेरह छंद ही कवि द्वारा रचित मिलते हैं इसमें कुल ३२ मात्राएं होती हैं।

चौपाई और दोहा:

इनका प्रयोग कवि ने अपनी प्रवंध रचनाओं में किया है। इनके अतिरिक्त कवि ने गेय पदों की भी रचना की है।

शैली

कवि ने कुल चार प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया है जिनका स्पष्टीकरण निम्नलिखित ढंग से किया जा सकता है।[1]

शैली
- (क) वक्र
  - (१) संश्लिष्ट
  - (२) विश्लिष्ट
- (ख) ऋजु
  - (१) संश्लिष्ट
  - (२) विश्लिष्ट

क—वक्र शैली

इस शैली में कवि ने लौकिक प्रेमसम्बन्धी और पारलौकिक (रहस्यवादी) दोनों ही प्रकार की रसात्मक रचनाओं की सृष्टि की है। कवित्त और सवैये जैसे छन्दों में कवि द्वारा सृष्ट सारी वर्णना इसी के अंतर्गत आयेगी। भावनामयता और उसकी सूक्ष्म, गहरी एवं घनी अनुभूति इस शैली की विशेषताएं हैं। इस शैली की शब्दावली सरल तथा संस्कृतनिष्ठता से दूर दिखायी पड़ती है। वक्रता का सारा कार्य भार लक्षणा ढोती है। इस शैली के एक दो उदाहरण देखिए:—

---

१ घनानंद और स्वच्छंद काव्यधारा—डॉ० मनोहर लाल गौड़, पृ० १५३।

(१) भसमी बिथा पै नित लंघन करति है।
(२) होहु घरीक जो आपु तें न्यारे।

क/१ वक्र संश्लिष्ट शैली

ऐसी शैली में कवि की विचारपूर्ण रचनाओं को आश्रय मिला है। विचाराधिक्य को कवि न्यूनातिन्यून शब्दों में व्यक्त करता है। इस कारण सश्लेषण विचारात्मकता का हुआ है। इस शैली की रचनाएँ अपेक्षाकृत जटिल ज्ञात होती हैं। एक उदाहरण:—

सोभा-लोभ-लागि-अंग-रंग-रंग प्रीति पाग,
जागि जागि नेंको न निमेष टेकतें ररा।
बोलनि, चितौनि, चारु डोलनि, कपोलनि सों,
चाहि चाहि रंक लों सुसंपति हियें धरी।

क/२ वक्र विश्लिष्ट शैली

इनमें वक्रता के साथ विचारात्मकता का वह संश्लेषण नहीं है जो उक्त शैली में पाया जाता है। उदाहरणार्थ:—

"घनआनन्द जान न कान करै इनके हिन की कित कोऊ कहै।
उत ऊतर पांय लगी मेंहदी सुकहा लगि धीरज हाय रहै॥"

ख-ऋजु शैली

इस शैली में कवि ने शुद्ध भक्ति-भाव से पूर्ण निबन्ध तथा गेय पदों की रचना की है। इस प्रकार की रचनाओं में भक्ति की निश्छलता, स्वच्छता और भक्त-जन-सुलभ सरलता और तरलता वर्तमान है।

तुमहीं हो हरि गति मेरी।
सबै ठौर सब भाँति सब समय पति मेरी।
तुमहीं में तुमतें निहचल रहौ मति मेरी।
आनन्दघन चातक लौं राखौ रति मेरी॥

ख/१ ऋजुसंश्लिष्टशैली

इस शैली में हम उन स्तुतियों, प्रार्थनाओं आदि को रख सकते हैं जो संस्कृत भाषा की तत्सम शब्दावली से पूर्ण हैं वक्र शैली में इस प्रकार के शब्द-विधान के लिये कोई गुंजाइश नहीं। बलदेव जी की स्तुति का एक उदाहरण देखिए:—

जयति रोहिनीनंदन उदार बिक्रम-बिपुल अतुल-बलधाम अच्युत कृपानिधि।
जयति गौर सुन्दर बरननील-अंबर-धरन एक-कुंडल-करन आभा बिबिधि।
जयति ब्रह्म-अग्रज ब्रज-बिलास मंगल सदन कामपालक सदा मत्त-रसरंग-रिधि।
करुना-सुदृष्टि आनन्दघन बृस्टि करि तापमोचन, देत परम सुखसिधि ॥[1]

$\frac{\text{ख}}{२}$ ऋजुविश्लिष्ट शैली

इस शैली में कवि के समस्त वर्णनात्मक निबन्ध लिखे गये हैं। इनकी शैली सहज, सरल और प्रसाद गुणपूर्ण है। सरल इतनी कि पढ़ते ही भाव मनोगत हो जायं। कभी यहां-वहां इस शैली में कवित्त और सवैयों जैसी लाक्षणिकता भी देखने को मिलती है किन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं। उदाहरणार्थः—

चीकने मेचक रुचिर मुंचित सुकुंचित केस।
निसि रसाल सु छबि रही फबि पीक अंजन-लेस ॥
घूमरे लोचननि की गति अति सिथिल मद छाकि।
जलकनी बरुनी-अनी पर लखि रहत चित चाकि ॥[2]

इनकी भाषा में शैली की श्रेष्ठरूपता की दृष्टि से यही उत्कृष्ट मानी जा सकती है। इनके अतिरिक्त भी डॉ० मनोहरलाल जी गौड़ ने काव्य गुणों के आधार पर कवि की निम्नलिखित शैलियों की सुन्दर विवेचना की है।[3]

(१) भावप्रधान शैली।
(२) अतिरंजित भावप्रधान शैली।
(३) रहस्यवादी शैली।
(४) वक्रोक्तिप्रधान शैली।
(५) मुहावराप्रधान शैली।
(६) अचेतन पर चेतनत्वारोपात्मक शैली।
(७) आत्मनिवेदनात्मक शैली।

दोष

दोषों का पाया जाना एक स्वाभाविक बात है। यह दूसरी बात है कि किसी में

---

१ घनआनन्द—सं० आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ५५० प्र० सं०।
२ घनआनन्द सं० आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० २६८, प्र० सं०।
३ घनआनन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा, पृ० १५७—७५ तक।

ये अत्यल्प और किसी में अत्यधिक मात्रा में आते हैं। घनआनन्द में दोष हैं किन्तु अत्यल्प मात्रा में ही। खासकर उनके कवित्त-सवैयों में कतिपय प्रमुख दोष नीचे दिये जाते हैं।

अ-अश्लीलता

ह्वैहै सोऊ घरी भाग उघरी आनंदघन,
सुरस बरसि लाल देखिहो हरी हमें।

हरी होना अथवा हरी करना ब्रजभाषा में चतुष्पदों के गर्भधारण करने के अर्थ में लिया जाता है अतएव कवि द्वारा 'सरस बरसि' के साथ 'हरी' शब्द का प्रयोग अश्लीलता-संयुक्त हो गया है।

ब-हीनोपमा

अलबेली सुजान के पायनि पानि पर्‌यौ न टर्‌यौ मन मेरो झवा।

इस पंक्ति के अन्त में मन को झवा कह देने से उसकी हीनता स्पष्ट है।

स-पुनरावृत्ति

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है कि कवि की अनेक कविताओं में बारम्बार समान-भाव की पुनरावृत्ति हुई है।

द-दूरान्वय

एरी घनआनंद बरसि मेरी जान तेरी,
हियो सुख सींचे गति तिरछी चितौन की।

इसमें 'तेरी' और 'चितौन' परस्पर सम्बद्ध हैं किन्तु हैं दोनों एक-दूसरे से काफी दूर। इस कारण यहाँ 'दूरान्वय' दोष है।

य-लयभंग

खान परी जान प्यारी निकाई की निधि है।

रेखांकित अंश में लयभंग है।

फ-क्लिष्टार्थ

संगुंफित विचार और अत्यधिक लाक्षणिकता के कारण कवि की रचनाओं में यत्र-तत्र क्लिष्टार्थ दोष भी पाया जाता है। उदाहरण के लिए एक कवित्त देखिए:—

समै के सरूप को जथारथ है बोध जाहि,
आए सो हरष औ विषादहू न गत को।
प्यारौ घनआनंद सुजान छायौ आँखिन मैं,
रस छाकै ताकै वाहि ठगिया ठगत को।
ताही न्यारौ मिल्यौ जौ बिचारो सो तौ ताहू मधि,
ताहि रंग ढंग रागै सुमन पगत को।
ऐसी दसा भाग जाग्यौ जागैं जौ जगाय भेंटैं,
प्रेम में जगत जिहि खेम मैं भगत को॥

इसके अतिरिक्त च्युत संस्कृति, न्यून पदत्व, समाप्तपुनराप्त, आदि दोष भी कवि की कविता में पाये जाते हैं।

सहायक ग्रंथ

भूषण

१. भूषण-ग्रंथावली, मिश्रबंधु, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी। पंचम संशोधित संस्करण १६९६ वि०।

२. संक्षिप्त हिंदी-नवरत्न, मिश्रबन्धु, गंगा-ग्रंथागार, अमीनाबाद पार्क, लखनऊ प्रथम संस्करण, १९९२ वि०।

३. भूषण-वि र्श, भगीरथ प्रसाद दीक्षित, सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, इलाहाबाद प्र० सं०, १६६५।

४. भूषण-ग्रंथावली, ब्रजरत्नदास, रामनारायण लाल, पब्लिशर और बुक्सेलर, प्रयाग, प्र० सं०, १९३०।

५. वीरकाव्य, डॉ०उदयनारायण तिवारी, भारती-भंडार, लीडर प्रेस इलाहाबाद, प्र० सं०, २००५ वि०।

६. हिंदी वीरकाव्य, डॉ० टीकम सिंह तोमर, हिंदुस्तानी एकेडेमी,: इलाहाबाद, प्र० सं०, १६५४ ई०।

७. शिवाजी दी मराठा, एच० जी० रॉलिसन, ऑक्सफोर्ड, १९१५ ई०।

८. मतिराम-ग्रंथावली, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, गंगा-ग्रंथागार, लाटूश रोड, लखनऊ, द्वि० सं० १६६१ वि०।

९. शिवाजी एण्ड हिज़ टाइम्स, सर यदुनाथ सरकार, एस० सी० सरकार एण्ड संस, कलकत्ता, १६१६ ई०।

१०. इन्फ्लुएन्स ऑव इस्लाम ऑन इन्डियन कल्चर, डॉ० ताराचंद, इन्डियन प्रेस, लिमिटेड, इलाहाबाद, १९३६ ई०।

११. हिंदी-काव्यशास्त्र का इतिहास, डॉ० भगीरथ मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, २००५ वि०।

१२. भूषण, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाराणसी।

१३. मिश्रबंधु-विनोद, दूसरा भाग, गंगा-ग्रंथागार, लखनऊ।

१४. हिंदी-साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नवीन संस्क०, ना० प्र० स०, वाराणसी।

१५. भूषण-ग्रंथावली, पं० रामनरेश त्रिपाठी।

देव

१. रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, डॉ० नगेन्द्र।
२. हिंदी-काव्यशास्त्र का इतिहास, डॉ० भगीरथ मिश्र।
३. हिंदी रीति-साहित्य, डॉ० भगीरथ मिश्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
४. देव-सुधा, संपादक, मिश्रबंधु।
५. रस-कलस, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'।
६. नवरस, डॉ० गुलाबराय।
७. काव्यकल्पद्रुम, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार।
८. सुखसागरतरंग, देवकृत, बम्बई, बुकसेलर्स, अयोध्या।
९. भावविलास, देवकृत, तरुणभारत ग्रं० क०, प्रयाग।
१०. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, डॉ० नगेन्द्र।
११. ब्रजभाषा साहित्य का नायिका-भेद, प्रभुदयाल मीतल।
१२. ब्रजभाषा, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा।
१३. मध्यकालीन श्रृंगारिक प्रवृत्तियाँ तथा नव-निबंध, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी।
१४. मध्यकालीन धर्म-साधना, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी।
१५. देव और बिहारी, पं० कृष्णबिहारी मिश्र।
१६. बिहारी और देव, लाला भगवानदीन 'दीन'।
१७. हिंदी-नवरत्न, मिश्रबंधु।

घनआनंद

१. घनआनंद (ग्रंथावली, भूमिका), आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र।
२. घनानंद और स्वच्छंद काव्यधारा, डॉ० मनोहरलाल गौड़।
३. घनानंद, ज्ञानवती त्रिवेदी।
४. घनआनंद और आनंदघन, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र।
५. घनानंद की रचनाएँ विषयक लेख, डॉ० केशरीनारायण शुक्ल, संपूर्णानंद अभिनंदन ग्रंथ।
६. हिंदी-साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल।
७. घनआनंद, शंभुप्रसाद बहुगुना।